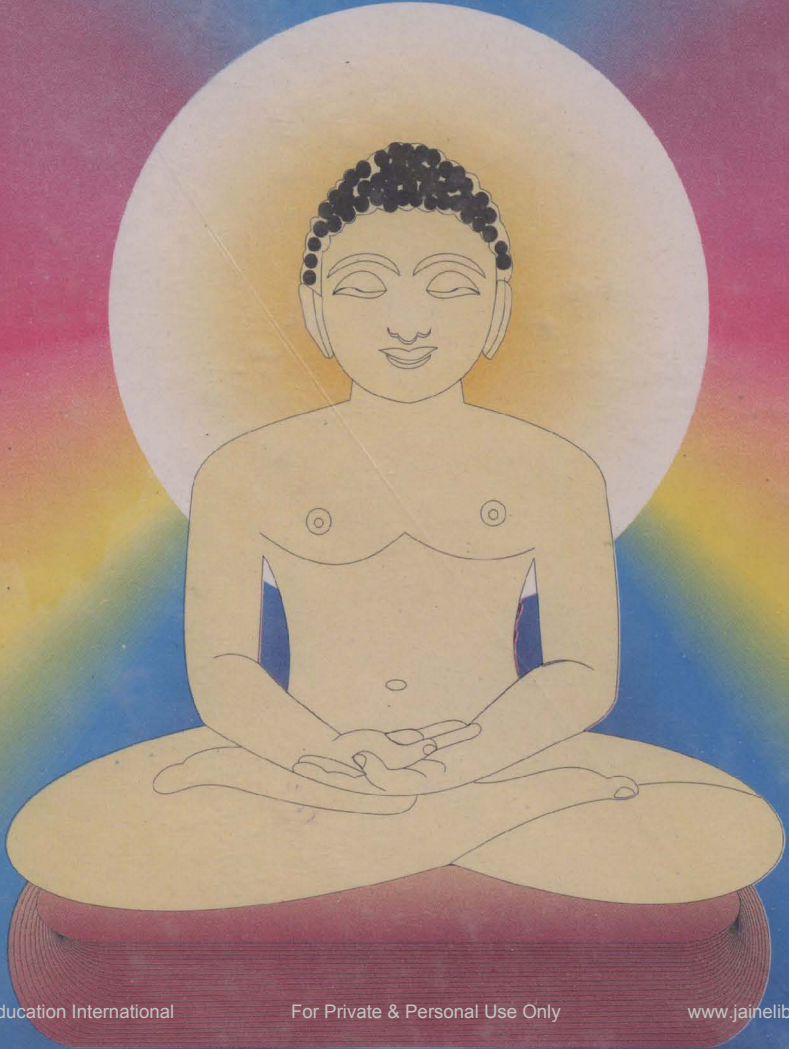


आचार्य महाप्रज्ञ

40/10

सत्य की खोज अनेकान्त के आलोक में

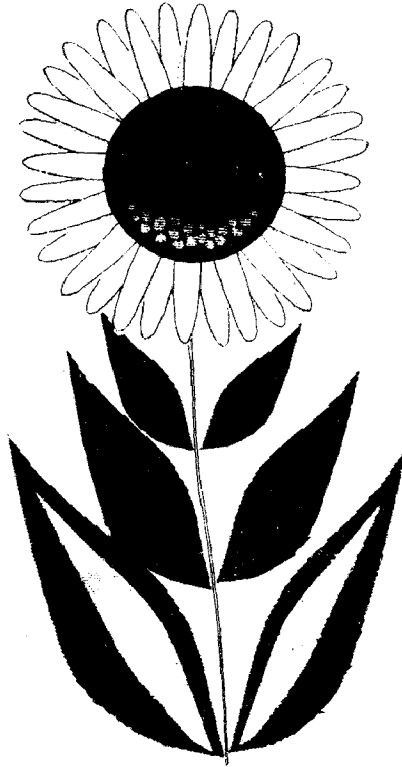


सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में

जैन विश्व भारती प्रकाशन

सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में

आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक :
मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं,
(राजस्थान)

© : जैन विश्व भारती, लाडनूं, (राजस्थान)

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित आचार्य महाप्रज्ञ
साहित्य प्रकाशन कोश ।

संस्करण : छठा, नवम्बर, १९९७

मूल्य : ₹ 40-00

मुद्रक : आर० के० भारद्वाज लेजर एवं ऑफसेट प्रिन्टर्स
शिवाजी पार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२,
फोन: २२८५१२४

SATYA KI KHOJ: ANEKANT KE ALOK MEN

Acharya Mahaprajna ₹ 40-00

प्रकाशकीय

हमारा जगत् है, जीवन है, अस्तित्व है, चेतना है, शरीर विभिन्न क्षमताओं से पूर्ण है—इसमें इन्द्रियां हैं, बुद्धि है।

लेकिन, इन सबके होते हुए भी क्या जीवन का सत्य ज्ञात है? वह अज्ञात है, अपरिचित है।

सत्य की खोज—जीवन के, अस्तित्व के रहस्यों की खोज है।

जीवन के अनन्त प्रवाह में आदिम युग से अन्तरिक्ष युग तक मनुष्य विकास की जिस स्थिति पर पहुंचा है, क्या यह पूर्ण है? नहीं, वह अपर्याप्त है, अधूरी है। मानव चेतना को विकास की अनेक सौड़ियां तय करनी हैं। नव-जागरण का अनन्त समुद्र उसके अस्तित्व में टाठें ले रहा है, पर उसका प्रस्फुटन आसान नहीं। जागरण की एक लंबी श्रृंखला भीतर प्रतीक्षारत है। इसके बाद ही सत्य की उपलब्धि है, अस्तित्व की पहचान है, जगत् के रहस्यों का प्रकटन है, दुःखों का निवारण है।

इस प्रकार प्रज्ञा के धनी आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने स्वअनुभव, चिंतन-मनन व दार्शनिक दृष्टिकोण से विषय की प्रस्तुति की है। 'सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में'—भगवान् महावीर के महान् अनेकान्त सिद्धान्त का अनेक निष्पत्तियों के साथ निरूपण करती है। सत्य के समीप ले जाती है। अतः यह लघुकाय होते हुए भी अपने आपमें एक पूर्ण कृति है।

सम्पूर्ण कृति तेरह लघु परिच्छेदों में विभक्त है। भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धान्त से लेकर व्यक्ति और समाज, धर्म से आजीविका : इच्छा, परिमाण, मनुष्य की स्वतन्त्रता का मूल्य जैसे विषयों को अध्यात्मवाद के साथ-साथ अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् कर्मवाद, आत्मा और परमात्मा, प्रत्ययवाद और वस्तुवाद, परिणामि—नित्य, तत्त्ववाद जैसे विषयों का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ जैन दर्शन की तुलनात्मक व्याख्या के रूप में स्पष्टीकरण हुआ है। कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कि विभिन्न दार्शनिक विवेचनों के साथ-साथ इसने अपना मौलिक स्वरूप ग्रहण किया है। यह अनेकान्तवाद के अपने वैशिष्ट्य के कारण सम्भव जान पड़ा है।

इस कृति में विषय सामग्री किस रूप में प्रस्तुत हुई है यह लेखक के ही शब्दों में प्रकट है—

- विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु जगत् में पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मृत्यु, शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते हैं।
- ज्ञान दुर्लभ है। श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है। आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ हो जाती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।
- धर्म और गरीबी में कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन में शान्ति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी दोनों से दूर होकर त्यागी होता है।
- सुविधाओं की संतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं। विलासिताओं की संतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते हैं। इस क्रम के साथ भगवान् महावीर के दृष्टिकोण—‘लाभ से लोभ बढ़ता है’—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओं की वृद्धि के क्रम में कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उसके साथ उभरने वाले मानसिक असंतोष और अशांति की चिकित्सा नहीं की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शांति की आहुति नहीं दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है।
- धर्म के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावों से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। राजनीति के सन्दर्भ में इसे दार्शनिक, व्यक्ति के बाहरी प्रभावों (व्यवस्थाकृत दोषपूर्ण नियंत्रणों) से मुक्ति को स्वतंत्रता मानते हैं। धर्म जागतिक नियमों की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध केवल मनुष्य से ही नहीं किन्तु जागतिक व्यवस्था से है।

- आन्तरिक जगत् में मनुष्य सीमातीत स्वतंत्र हो सकता है किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिबन्ध क्षेत्र में कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतंत्र नहीं हो सकता ।
- यह सच है कि मनुष्य ने संसार को बदला है और यह भी सच है कि वह संसार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी में नहीं बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख की सृष्टि नहीं कर पाया है ।
- महावीर ने कर्म के उदीरण और संक्रमण के सिद्धांत का प्रतिपादन भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया ।
- यदि हम नियति को जागतिक नियम (Universal Law) के रूप में स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है ।
- प्रगति का पहला चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न ।
- ज्ञान होना और संवेदन न होना—यह द्रष्टा का जीवन है । ज्ञान और संवेदन—यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है ।
- जैन दर्शन ने कर्मवाद की जो मीमांसा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है । यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं ।

सत्य सत्य ही है । वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नहीं होता । फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हूँ दूसरा उसे असत्य मानता है । दूसरा जिसे सत्य मानता है मैं उसे असत्य मानता हूँ । सत्य का यह विवादास्पद रूप असत्य की ओर ले जाता है । इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकान्त की स्थापना करते हुए महावीर ने कहा—सत्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । प्रतिपादन सत्यांश का ही हो सकता है । कोई भी मनुष्य अपने जीवन में सत्य के हजारों पर्यायों से अधिक पर्यायों को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता ।

- जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनों सत्यांशों की सापेक्ष व्याख्या की है ।
- प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्यांश हो जाते हैं और परस्पर सापेक्ष होकर सत्यांश बन जाते हैं ।
- विश्व का प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है ।

- आइंस्टीन का यह सिद्धांत है कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान द्रव्य—संहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या परिणामि—नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है।
- सत्य की खोज चिन्तन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक सन्दर्भ में हुआ है।
- चेतन और अचेतन—दोनों निरपेक्ष सत्य हैं तथा उनमें होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनों सत्यों की समन्विति ही वास्तविक सत्य है।

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक यह एक रोचक कृति बन पड़ी है। विषय सामग्री में रोचकता उत्पन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर लघु संवादों व दृष्टान्तों का प्रयोग अतीव मनोहर रूप में प्रकट हुआ है।

भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी पर इस पुस्तक का प्रथम संस्करण आगम और साहित्य प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् द्वितीय संस्करण की आवश्यकता दीर्घ समय से निरन्तर अनुभव की जा रही थी अतः तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन द्वारा इसे नये रूप में सत्यान्वेषी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया गया। नवीन संस्करण की जरूरत हुई। हमें यह छठा संस्करण निकालते हुए परम हर्ष हो रहा है।

हमें आशा है कि मौलिक कृति पाठकों के साधना-पथ में सहयोगी बनेगी।

पर स्मरण रखें—सत्य की खोज स्वयं की अज्ञात गहराइयों में छलांग लगाने का साधन है। सत्य की खोज स्व-परिवर्तन का मूल-मंत्र है। सत्य की खोज स्वयं को पुनर्जन्म की प्रसव पीड़ा से गुजरने की तैयारी है।

मंगल कामनाओं के साथ—

प्रकाशक

स्वकथ्य

विश्व के इतिहास में अब तक जो सत्य की खोज हुई है, वह पूरी की पूरी सत्य के उपायों की खोज है। उपाय की खोज किए बिना उपेय की खोज नहीं की जा सकती। सत्य उपेय है। ज्ञान उसका उपाय है।

भगवान् महावीर के समसामयिक संजयवेलट्टिपुत्त ने कहा था—मैं नहीं जानता कि वस्तु सत् है तो फिर मैं कैसे कहूँ कि वह सत् है। मैं नहीं जानता कि वह असत् है तो फिर मैं कैसे कहूँ कि वह असत् है। यह भारतीय दर्शन का संशयवाद है। पश्चिमी दर्शन में संशयवाद के प्रवर्तक 'पाइरो' (३६५-२७५ ई० पू०) हैं। वे अरस्तू के समसामयिक थे। थेलीज से लेकर अरस्तू तक के दार्शनिकों के पारस्परिक मतभेदों को देखकर उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि मनुष्य के लिए वास्तविक सत्य तक पहुंचना संदिग्ध है। निर्विकल्प बुद्धि, सविकल्प बुद्धि और इन्द्रियानुभूति निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिए सत्य को जानने का कोई उपाय नहीं है। कांट के अनुसार ज्ञान के लिए इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प—दोनों अनिवार्य हैं। ज्ञान और सत्य निश्चित होता है। सत्यता इन्द्रिय-संवेदन से आती है और निश्चय बुद्धि-विकल्प से आता है।

भगवान् महावीर ने कहा—सत्य की उपलब्धि के दो उपाय हैं—अतीन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय ज्ञान। अतीन्द्रिय ज्ञान योगी को होता है या विशेष परिस्थितियों में होता है। वह सामान्य नहीं है। सर्वमान्य ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि—तीनों समन्वित हैं। इन्द्रिय-संवेदन न सत्य होता है और न असत्य होता है। सापेक्ष होकर वह सत्य होता है और निरपेक्ष रहकर वह असत्य हो जाता है। बुद्धि-विकल्प न सत्य होता है और न असत्य होता है। सापेक्ष होकर वह सत्य होता है और निरपेक्ष रहकर वह असत्य हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान और वचन-विकल्प की सत्यता सापेक्षता पर निर्भर है। इसलिए अनेकान्त का दूसरा नाम सापेक्षवाद है। हम द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादन करते हैं या कर सकते हैं। उस समय हम एक समस्या में उलझे होते हैं। हमारा बुद्धि-विकल्प और वचन-विकल्प द्रव्य के जिस स्वरूप का ग्रहण और प्रतिपादन कर रहा है, वह यदि वही हो तो इस एक धर्मवाला

बन जाए और वह उससे अतिरिक्त हो तो हमारा ग्रहण और प्रतिपादन पूर्ण-सत्य का ग्रहण और प्रतिपादन नहीं होता। इस समस्या को सुलझाने के लिए अनेकान्त के आचार्यों ने एक मत सुझाया। उन्होंने कहा—प्रत्येक बुद्धि-विकल्प के साथ हम अपेक्षा को जोड़ें और प्रत्येक वचन-विकल्प के साथ हम 'स्यात्' का प्रयोग करें। इससे वक्ता और श्रोता—दोनों इस विषय में स्पष्ट रहेंगे कि जो समझा और कहा जा रहा है वह द्रव्य का एक धर्म है और वह द्रव्य के शेष अनन्त धर्मों में अविभक्त है। 'स्यात्' शब्द से युक्त वचन-विकल्प स्याद्वाद कहलाता है। हम सापेक्षवाद और स्वाद्वाद के सहारे अनेकान्त को समझ सकते हैं और अनेकान्त के सहारे सत्य तक पहुंच सकते हैं। यह सत्य की उपलब्धि का वह उपाय है, जिसने संशय और आग्रह से मुक्त रहकर अनाग्रह और निश्चय का मणिकांचन योग किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने कुछ समस्याओं का अनेकान्त के दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। यह सर्वग्राही दृष्टिकोण समस्याओं के समाधान का महत्वपूर्ण साधन है। अपेक्षा है कि हम इसका मूल्यांकन करें।

आचार्यश्री तुलसी मेरे प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। उनकी एक प्रेरणा अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हो जाती है। उक्त ग्रंथ में भी प्रतिबिम्बित सुदृष्ट है।

इस ग्रंथ के संपादन का कार्य मुनि दुलहराजजी ने किया है। वे मेरी कृति का, लेखन के अतिरिक्त, सारा दायित्व सम्हाल कर मेरे कार्य को सरल बना देते हैं और मैं सदा अपने को भारमुक्त अनुभव करता हूँ।

कॉफी समय से प्रतीक्षारत इस पुस्तक का नवीन संस्करण भी प्रत्येक वर्ग के लिए ग्राह्य, उपादेय होगा। इसी आशा और आश्वासन के साथ—

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
१. भगवान् महावीर : जीवन और सिद्धान्त	१
२. मानवीय एकता	१३
३. व्यक्ति और समाज	१७
४. धर्म से आजीविका : इच्छा-परिमाण	२५
५. मनुष्य की स्वतंत्रता का मूल्य	३५
६. कर्मवाद	४२
७. आत्मा और परमात्मा	५१
८. साधना का मार्ग	५१
● शरीर को सताना धर्म नहीं	
● कायोत्सर्ग	
● कर्म-शरीर का प्रकंपन	
● प्राण	
● प्राणायाम	
९. सत्य की खोज : विसंवादिता का अवरोध	७५
१०. सत्यवाद और वस्तुवाद	७८
११. परिणामि-सत्य	८२
१२. तत्त्ववाद	८९
१३. अद्वैत और द्वैत	१००

भगवान् महावीर : जीवन और सिद्धान्त

गृहवास के तीस वर्ष

ढाई हजार वर्ष पुराना भारत दो राजनीतिक प्रणालियों में बंटा हुआ था। मगध, अंग, बंग, कलिंग, वत्स, अवन्ती, उत्तरी कौशल आदि राजतन्त्र की प्रणाली से शासित थे। वैशाली में लिच्छवि, कपिलवस्तु में शाक्य, कुशीनारा और पावा में मल्ल गणराज्य था। वहां की जनता गणतंत्र की शासन-प्रणाली से शासित थी। राजतंत्र की प्रणाली में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। गणतंत्र की प्रणाली में शासक मात्र मानव समझा जाता था। महावीर वैशाली गणतंत्र के शासक-सदस्य श्री सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। क्षत्रकुण्डग्राम वैशाली का उपनगर था। उस पुण्यभूमि में महावीर ने जन्म लिया था। ईस्वी पूर्व ५९९, ३० मार्च (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को उनका जन्म हुआ था। उनका शैशव कैसा था, यौवन कैसा था, इस विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। महावीर जीवन के अट्टाईस वर्ष पूर्ण कर रहे थे, तब उनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए। उन्होंने श्रमण होने की भावना प्रकट की। उनके चाचा सुपार्श्व और बड़े भाई नन्दिवर्धन ने कुछ वर्षों तक घर में रहने का अनुरोध किया। महावीर की विनम्रता उसे अस्वीकार नहीं कर सकी और उनका संकल्प गृहवास को स्वीकार नहीं कर सका। इस अन्तर्द्वन्द्व ने एक नए मार्ग की खोज की। शायद यहीं उन्होंने यह सूत्र निर्मित किया होगा—जिसकी वासना नहीं छूटी और श्रमण हो गया। वह घर में नहीं है पर घर से दूर भी नहीं है। वासना से मुक्त होकर घर में रहते हुए भी घर से दूर रहा जा सकता है। वे दो वर्ष तक घर में रहते हुए घर से दूर रहे। इस अवधि में उन्होंने विदेह-साधना की।

वे परिवार के बीच रहकर भी एकान्त में रहे। जिसके शरीर में आसक्ति नहीं रहती, वह समुदाय में रहकर भी अकेला रह सकता है।

उन्होंने अस्वाद का विशिष्ट अभ्यास किया। जिसे देहातीत अवस्था में रस का अनुभव हो जाता है, उसे अस्वाद की उपलब्धि करने में कठिनाई नहीं होती।

वे मौन और ध्यान में लीन रहे। जिसके लिए बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होने

का प्रयोजन शेष नहीं रहता, उसकी वाणी मौन हो जाती है, विकल्प शून्य हो जाते हैं।

इन दो वर्षों की साधना से उनके श्रामण्य की पृष्ठभूमि और अधिक सुदृढ़ हो गई। गुरुजनों के अनुरोध की अर्वाधि पूर्ण हुई। उन्होंने अनुभव किया—घर में रहते हुए घर से दूर रहना सम्भव हो सकता है, पर यह सामुदायिक मार्ग नहीं है। यह कुछ लोगों का मार्ग है। सामुदायिक मार्ग यह हो सकता है—घर की वासना को छोड़ना और साथ-साथ घर को भी छोड़ देना। सबके कल्याण की बात सोचने वाला सामुदायिक मार्ग पर चलता है। महावीर ने घर छोड़ने के लिए परिवार की अनुमति प्राप्त कर ली और वे वहाँ से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुण्डग्राम के बाहर उद्यान में गए। जनता के समक्ष उन्होंने स्वयं श्रमण की दीक्षा स्वीकार की, आजीवन समता के पथ पर चल पड़े।

साधना के बारह वर्ष

भगवान् महावीर की साधना का पहला चरण इस संकल्प के साथ उठा—आज से मैं विदेह रहूँगा, देह की सुरक्षा नहीं करूँगा। सर्दी-गर्मी के परीषहों को झेलूँगा। जो भी कष्ट आए, उसे सहन करूँगा। रोग की चिकित्सा नहीं कराऊँगा। भूख और प्यास की बाधा से अभिभूत नहीं होऊँगा। नींद पर विजय प्राप्त करूँगा।

भगवान् महावीर ने अनुभव किया—अभय के सधे बिना समता नहीं सध सकती और विदेह के सधे बिना अभय नहीं सध सकता। मानवीय दुर्बलताओं का मूल स्रोत भय है। मानव की महान् शक्ति के विकास का मूल स्रोत अभय है। भय का आदि बिन्दु है—देह की आसक्ति। उसकी आसक्ति को छोड़ना, विदेह होना, अभय सिद्धि की अनिवार्य शर्त है।

भगवान् महावीर जैसे-जैसे विदेह की साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी अहिंसा, मैत्री और शान्ति की शिखा अधिक प्रज्वलित होती गई। हिंसा, वैर और अशांति—ये सब देह में होते हैं, विदेह में नहीं होते।

सर्प और समता

महावीर कनखल आश्रम के पार्श्ववर्ती देवालय के मण्डप में ध्यान कर रहे थे। चण्डकौशिक सर्प ने दृष्टि से विष का विकिरण किया। भगवान् पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह भगवान् के पैरों में लिपट बार-बार उन्हें डसने लगा। उनकी आंखों से निरन्तर अमृत की धारा बहती रही। उनका मैत्रीभाव विष को निर्विष करता

रहा। अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई। सर्प का क्रोध शांत हो गया। उसने सदा के लिए अहिंसा का वरण कर लिया।

महावीर जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी चेतना में समता का सूर्य अधिक आलोक देने लगा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—सब उस आलोक से आलोकित हो उठे।

अरक्षा : सबसे बड़ी सुरक्षा

महावीर ध्यान कर रहे थे। एक ग्वाला आया। साथ में बैल थे। उन्हें वहां चरने के लिए छोड़ वह घर चला गया। उसने लौटकर देखा बैल वहां नहीं है। वह क्रुद्ध हो गया। बैलों को खोजने इधर-उधर घूमने लगा। थोड़ी देर बाद फिर वहीं पहुंचा, जहां महावीर ध्यान कर रहे थे। बैलों को महावीर के आस-पास देखकर वह स्तब्ध रह गया। 'यह श्रमण बैलों को हथियाना चाहता है', इस सन्देह ने ग्वाले का क्रोध प्रज्वलित कर दिया। वह रस्सी को आकाश में उछालता हुआ महावीर पर प्रहार करने को आगे बढ़ा, इतने में नंदिवर्धन वहां आ पहुंचा। उसने ग्वाले को समझा-बुझाकर शांत कर दिया। नंदिवर्धन ने महावीर की सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाही। महावीर ने उसे अस्वीकार कर दिया उन्होंने कहा—'जो अपने आपको असुरक्षित अनुभव करता है, वह अध्यात्म के पथ पर नहीं चल सकता। अध्यात्म के पथ पर चलने वाला अपने आपको सदा सुरक्षित अनुभव करता है। मुझे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नहीं है। स्वतंत्रता और स्वावलम्बन ही मेरी सुरक्षा है।'

ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन

महावीर ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। कुछ युवतियों ने आकर सहवास के लिए प्रार्थना की। भगवान् ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। युवतियों ने उन्हें अपने मायाजाल में फंसाने की अनेक चेष्टाएं कीं, पर उनकी चैतन्य-केन्द्र की ओर बहने वाली ऊर्जा का एक कण भी काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित नहीं हुआ। भगवान् के ध्यान की धारा अविच्छिन्न चलती रही। युवतियां जिस दिशा से आई थीं उसी दिशा में लौट गईं।

कैवल्य

भगवान् महावीर की साधना का मूलमंत्र है—समता। न राग और न द्वेष—चेतना की यह अनुभव-दशा समता है। भगवान् ने अनुभव किया, दुःख का मूल बीज है कर्म और कर्म का मूल बीज है राग-द्वेष। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और

परिग्रह—ये राग-द्वेष के ही परिणाम हैं, राग-द्वेष के होने पर ये होते हैं, उसके न होने पर नहीं होते। भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में केवल ३५० दिन भोजन किया। शेष समय उपवास में बीता। उन्होंने छह मास तक लगातार उपवास किया। भगवान् ने समूचे साधनाकाल में कुल मिलाकर अड़तालीस मिनट से अधिक नींद नहीं ली। भगवान् ने सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कोई भी वस्त्र नहीं ओढ़ा। कष्ट आने पर किसी की शरण में नहीं गये। चींटियों में सताया, जंगली मच्छरों ने काटा, अग्नि से पैर झुलस गये। पर भगवान् ने उनका वैसे अनुभव किया जैसे कुछ हुआ ही न हो। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, निंदा-अनिंदा, मान-अपमान, जीवन-मरण के अनगिन प्रसंगों और घटनाओं ने भगवान् की समता की कसौटी की। पर हर कसौटी में वे खरे उतरे। उनकी विदेह-साधना सिद्ध हो गई। उनकी अभय-साधना सिद्ध हो गई। उनकी समता की साधना सिद्ध हो गई। वे वीतराग की भूमिका में केवली हो गये। परोक्ष ज्ञान का लोहावरण टूट गया। उनकी चेतना अनावृत हो गई। उन्हें ज्ञान के माध्यमों की अपेक्षा नहीं रही। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपयोगिता समाप्त हो गई। उनके लिए सब कुछ प्रत्यक्ष हो गया। साधनाकाल में भगवान् प्रायः मौन, अकर्म और ध्यानस्थ रहे। साधना की सिद्धि होने पर उन्होंने सत्य की व्याख्या की। उन्होंने व्याख्या का माध्यम जन-भाषा को बनाया। उनके उपदेश आज भी उस समय की जनभाषा—प्राकृत में मिलते हैं।

सत्य

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी सत्य की उपलब्धियों की शताब्दी है। उस शताब्दी में भारतीय क्षितिज पर महावीर और बुद्ध, चीनी क्षितिज पर लाओत्से और कन्फ्यूशियस, यूनानी क्षितिज पर पाइथेगोरस जैसे महान धर्मवेत्ता सत्य के रहस्यों का उद्घाटन कर रहे थे। वे भौगोलिक सीमा से विभक्त थे। उनका प्रतिपादन इस तथ्य की घोषणा है कि सत्य शाश्वत है। वह देश और काल से व्यवच्छिन्न नहीं है।

ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी में जैन धर्म के महान् तीर्थंकर भगवान् पार्श्व हो चुके थे। उनका धर्मशासन सत्य का सापेक्ष उद्घोष कर रहा था। उस समय उपनिषद् लिखे जा रहे थे। औपनिषदिक ऋषि नेति-नेति के द्वारा सत्य की व्याख्या कर रहे थे। महावीर के समय तक उसकी पुनरावृत्ति हो रही थी। बुद्ध ने कहा—‘सत्य अव्याकृत है।’ लाओत्से ने कहा—‘सत्य कहा नहीं जा सकता।’ महावीर ने कहा—‘सत्य नहीं कहा जा सकता, यह जितना वास्तविक है उतना ही वास्तविक यह है कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य कहा जा सकता है—इसका स्वीकार यदि

अवास्तविक है तो सत्य नहीं कहा जा सकता—इसका स्वीकार भी वास्तविक नहीं है। वास्तविकता इन दोनों के समन्वय से प्राप्त होती है। विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु-जगत् में पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मौत, शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते हैं।’

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

‘भंते ! सत्य क्या है ?’

‘वह बताया नहीं जा सकता।’

‘तो हम उसे कैसे जानें ?’

‘तुम स्वयं उसे खोजो।’

‘उसकी खोज कैसे करें ?’

‘कर्म को छोड़ दो—मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।’

‘भंते ! फिर जीवन कैसे चलेगा ?’

‘संयत कर्म करो—बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तब संयम से खाओ। सब कुछ संयम से करो।’

‘भंते ! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता ?’

‘ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूँ। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूँ कि सत्य कहा जा सकता है। (सत्य अवक्तव्य और सत्य वक्तव्य है—इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यग् ज्ञान है।’

वक्तव्य सत्य

‘भंते ! वक्तव्य सत्य क्या है ?’

‘अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन

और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।'

ज्ञान और कर्म का समन्वय

महावीर न कोरे दार्शनिक थे और न कोरे धार्मिक। वे दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। उन्होंने सत्य को देखा, फिर चेतना के विकास के लिए अनाचरणीय का संयम और आचारणीय का आचरण किया।

महावीर ने कहा—अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन (भक्ति) और अकेला पुरुषार्थ (कर्म) मनुष्य को दुःख-मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय ही उसे दुःख-मुक्ति की ओर ले जाता है। इस दर्शन के आधार पर उन्होंने इस सूत्र का प्रतिपादन किया—पहले जानो, फिर करो। ज्ञान-हीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—ये दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—ये दोनों एक साथ होकर ही सार्थक होते हैं।

श्रद्धा : ज्ञान और आचार का सेतु

ज्ञान और आचार के बीच में एक दूरी बनी रहती है। हम बहुत सारे सत्यों को जानते हैं, पर उनका आचरण नहीं करते। ज्ञान सीधा आचरण से नहीं जुड़ता है। उन दोनों को जोड़ने वाला सेतु श्रद्धा है। वह ज्ञात सत्य के प्रति आकर्षण पैदा करता है। आकर्षण पुष्ट हो जाता, तब ज्ञान स्वयं आचार बन जाता है। हम लोग समझते हैं कि जिसका ज्ञान न हो उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। महावीर ने ठीक इसके विपरीत कहा—जिसका ज्ञान हो जाए उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा अज्ञान का संरक्षण नहीं करती। वह ज्ञान को आचरण तक ले जाती है। ज्ञान दुर्लभ है, श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है, आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ होती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

आत्मा और परमात्मा

महावीर ने किसी शास्त्र को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना। उन्होंने यह घोषणा की कि ज्ञान का मूल स्रोत मनुष्य है। आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। आत्मा ही कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बनती है। उनके दर्शन में स्वतः प्रामाण्य शास्त्र का नहीं है, मनुष्य का है। वीतराग मनुष्य प्रमाण होता है और अन्तिम प्रमाण अपनी वीतराग दशा है।

सहअस्तित्व

महावीर अनेकात्मवादी थे। उन्होंने बताया—आत्माएं अनन्त हैं। वे किसी एक आत्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा से स्वतंत्र है। सब आत्माओं में चैतन्य है, पर वह सामुदायिक नहीं है। वह हर आत्मा का अपना-अपना है, स्वतंत्र है। जैसे आत्माएं अनेक हैं, वैसे ही उनकी योनियां भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु-जीवन में है और कोई मनुष्य जीवन में। मनुष्य जीवन में भी अनेक विभाजन हैं। कोई मनुष्य शीत कटिबन्ध में जन्मा हुआ है तो कोई उष्ण कटिबन्ध में। कोई गोरा है तो कोई काला है। महावीर के युग में भारतीय मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में बंटा हुआ था। ये विभाजन मनुष्य के अपने कर्म-संस्कार, भौगोलिक वातावरण और समाज-व्यवस्था के आधार पर हुए थे। पर मनुष्य का अहंकार प्रबल होता है। जिस वर्ग को अहंकार प्रकट करने की सुविधा मिली, उसने उच्चता और नीचता की दीवारें खड़ी कर दी। जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले मनुष्य नीच कहलाने वाले मनुष्य के साथ पशु से भी हीन व्यवहार करने लगे। इस स्थिति में महावीर ने चिन्तन क्रिया कि वस्तु-जगत् में समन्वय है, सहअस्तित्व है तो फिर मानव-जगत् में समन्वय और सहअस्तित्व क्यों नहीं होना चाहिए? इस उत्प्रेक्षा के आधार पर उन्होंने मैत्री का सूत्र प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सब जीवों के साथ मैत्री करो। मैत्री का सिद्धांत बहुत अच्छा है। सिद्धांत का सौन्दर्य व्यवहार का सौन्दर्य बन जाए यह सरल नहीं है। स्वभाव, रुचि और चिंतन की धारा भिन्न होने पर मैत्री टूट जाती है। महावीर ने उसे साधने का सूत्र दिया—सहिष्णुता। उन्होंने बताया—भेद के पीछे छिपे हुए अभेद को मत भूलो। तुम जिससे भिन्न हो उससे उतने ही अभिन्न हो। जिससे अभिन्न हो उससे उतने ही भिन्न हो। किसी से सर्वथा भिन्न नहीं हो। जब सबसे भिन्न-भिन्न हो, तब भेद को सामने रखकर कैसे किसी को शत्रु मानते हो और अभेद को सामने रखकर कैसे किसी को मित्र मानते हो? तुम जिसे शत्रु मानते हो उसे भी सहन करो और जिसे मित्र मानते हो उसे भी सहन करो। इस सूत्र से अपने आपको भावित करो—

मैं सब जीवों को सहन करता हूँ,

वे सब मुझे सहन करें।

मेरी सबके प्रति मैत्री है,

किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

तुम सबसे भिन्ना-भिन्न हो तब कैसे किसी को नीच मानते हो और कैसे किसी

को उच्च मानते हो ? तुम जिसे नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। अहंकार को छोड़ यथार्थ को देखो। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। यह कर्म का विभाजन है। इस विभाजन के साथ अहंकार को छोड़कर उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित मत करो, मनुष्य को तोड़ कर मत देखो। व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ जुड़ी हुई मानवीय एकता को मत भूलो। इस घोष ने भारतीय मानस को आंदोलित कर दिया। अनेकता एकता से पृथक् नहीं है और एकता अनेकता से पृथक् नहीं है। यह सहअस्तित्व का मौलिक आधार है। इसी आधार पर मानवीय एकता संभव हो सकती है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वभाविक है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। शांतिपूर्ण जीवन के लिए सहअस्तित्व अनिवार्य है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

दर्शन का धर्म अवतरण

बीज की निष्पत्ति पेड़ और पेड़ की निष्पत्ति फल है। दर्शन की निष्पत्ति नैतिकतापूर्ण व्यवहार है। जब हम भीतर से देखते हैं, तब दर्शन से धर्म की और धर्म से नैतिकता की भूमिका पर आते हैं। जब हम बाहर से देखते हैं तब नैतिकता से धर्म की और धर्म से दर्शन की भूमिका पर चले जाते हैं। महावीर का दर्शन भीतर से बाहर की ओर था। उसी आधार पर उन्होंने कहा—जिसका दृष्टिकोण सम्यक् है वही व्रती होगा। अहिंसा का व्रती अपने आश्रितों और कर्मकारों के प्रति क्रूर व्यवहार नहीं करेगा, उनकी आजीविका में विघ्न नहीं डालेगा। सत्य का व्रती विश्वासघात नहीं करेगा। झूठी गवाही नहीं देगा। अचौर्य का व्रती मिलावट नहीं करेगा, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु नहीं देगा। ब्रह्मचर्य का व्रती विलासपूर्ण सामग्री का उपयोग नहीं करेगा। अपरिग्रह का व्रती संग्रह की सीमा करेगा। व्यक्तिगत जीवन में संयमी रहेगा। जिसके जीवन में नैतिकता नहीं है, उसमें धर्म नहीं हो सकता। नैतिकता-विहीन धर्म की कल्पना महावीर के लिए सर्वथा असम्भव थी। धर्म के आचरण से व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता, सामाजिक संबंधों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता तो कैसे समझा जाए कि धर्म का आचरण करने वाले जीवन में धर्म है ? धर्म शुद्ध आत्मा में उतरता है। आत्मा की शुद्धता होती है, वहां अनैतिकतापूर्ण व्यवहार संभव नहीं हो सकता।

मौलिक सिद्धांत

महावीर ने तत्त्व, धर्म और व्यवहार के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और जिन सिद्धांतों ने जनमानस को आंदोलित किया, वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे। संक्षेप में उन सिद्धान्तों और उनसे फलित शिक्षाओं का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. अनेकांत और स्याद्वाद

१. तत्त्व को अनन्त दृष्टिकोण से देखना अनेकांत और उसका सापेक्ष प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। सत्य अनन्त-धर्मा है। एक दृष्टिकोण से उसके एक धर्म को देखकर शेष अदृष्ट धर्मों का खंडन मत करो।
२. एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो।
३. सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरों के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।
४. प्रत्येक विचार सत्य हो सकता है और प्रत्येक विचार असत्य हो सकता है—एक विचार दूसरे विचारों से सापेक्ष होकर सत्य होता है। एक विचार दूसरे विचारों से निरपेक्ष होकर असत्य हो जाता है।
५. अपने विचार की प्रशंसा और दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।

अहिंसक क्रांति

राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। सब जीवों के प्रति संयम करना, समभाव रखना अहिंसा है। समानता का भाव सामुदायिक जीवन में विकसित होता है तब अहिंसक क्रांति घटित हो जाती है। महावीर ने अहिंसक क्रांति के लिए जनता को ये सूत्र दिए—

१. किसी का वध मत करो।
२. किसी के साथ वैर मत करो। जो दूसरों के साथ वैर करता है, वह अपने वैर की श्रृंखला को और प्रलम्ब कर देता है।
३. सबके साथ मैत्री करो।
अहिंसा के इन सूत्रों का मूल्य वैयक्तिक था। महावीर ने सामाजिक सन्दर्भ में भी अहिंसा के सूत्र प्रस्तुत किये।
४. उस समय दास-प्रथा चालू थी। सम्पन्न मनुष्य विपन्न मनुष्य को खरीदकर दास बना लेता था। महावीर ने इस हिंसा के प्रति जनता का ध्यान

- आकर्षित किया। उन्होंने एक सूत्र दिया—दास बनाना हिंसा है, इसलिए किसी को दास मत बनाओ।
५. उस समय के पुरुष स्त्रियों को और शासक वर्ग शासितों को पराधीन रखना अपना अधिकार मानते थे। महावीर ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि दूसरों को पराधीन बनाना हिंसा है। उन्होंने अहिंसा का सूत्र यह दिया—दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।
 ६. उस समय उच्च और नीच—ये दो जातियां समाज-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत थीं। उच्च जाति नीच जाति से घृणा करती थी। उसे अच्छूत भी मानती थी। महावीर ने इस व्यवस्था को अमानवीय प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा—जाति वास्तविक नहीं है। जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील है, काल्पनिक है। इसे शाश्वत का रूप देकर हिंसा को प्रोत्साहन मत दो। किसी मनुष्य से घृणा मत करो। उन्होंने सब जाति के लोगों को अपने संघ में सम्मिलित कर 'मनुष्य जाति एक है'—इस आंदोलन को गतिशील बना दिया।
 ७. उस समय स्वर्ग की प्राप्ति के लिए पशु बलि दी जाती थी। महावीर ने कहा—स्वर्ग मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है निर्वाण—परमशांति। पशुबलि से स्वर्ग नहीं मिलता। जो पशुबलि देता है, वह मूक पशुओं की हिंसा कर अपने लिए नरक का द्वार खोलता है।
 ८. उस समय माना जाता था कि युद्ध में मरने वाला स्वर्ग में जाता है। महावीर ने इसका अवास्तविकता का प्रतिपादन करते हुए कहा—'युद्ध हिंसा है। वैर से वैर बढ़ता है। उससे समस्या का समाधान नहीं होता।'।
 ९. आक्रमण मत करो। मांसाहार और शिकार का वर्जन करो।

३. अपरिग्रह

मन में ममत्व का भाव न होना अपरिग्रह है। वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महावीर ने हिंसा और अपरिग्रह को तोड़कर नहीं देखा। मन में हिंसा का भाव (अहंकार या ममकार) होता है तब संग्रह करने की वृत्ति जागती है और जब मनुष्य संग्रह करता है तब उसकी हिंसा प्रबल हो उठती है। इस प्रकार हिंसा के लिए संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा—यह चक्र चलता रहता है।

महावीर ने अपरिग्रह के इन सूत्रों का प्रतिपादन किया—

१. अपने शरीर और परिवार के प्रति होने वाले ममत्व को कम करो।

२. उपभोग की वस्तुओं का संयम करो ।
३. धन-सम्पदा बढ़ाने या उसकी सुरक्षा करने के लिए फैलाव मत करो—विस्तारवादी नीति मत अपनाओ ।
४. दूसरों के स्वत्व पर अधिकार करने के लिए आक्रमण मत करो ।

४. पुरुष और पौरुष

१. मनुष्य अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं है । अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है ।
२. राजा देव नहीं है, ईश्वर का अवतार नहीं है । वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, सम्पन्न मनुष्य कहो ।
३. ग्रन्थ मनुष्य की कृति है । पहले मनुष्य, फिर ग्रन्थ । कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय नहीं है ।
४. विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यों के योग या परस्परपेक्षिता से स्वतः संचालित है । वह किसी एक सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा संचालित नहीं है ।
५. यह विश्व छह द्रव्यों की संघटना है । वे ये हैं—
 - धर्म—गतितत्त्व ।
 - अधर्म—स्थितितत्त्व ।
 - आकाश ।
 - काल ।
 - पुद्गल ।
 - जीव ।
६. मनुष्य अपने ही कर्तव्य से उत्क्रांति और अपक्रांति करता है । इस प्रसंग में महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन तत्त्वों की व्याख्या की ।
७. मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्जा नहीं है । भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है । वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है !

५. धर्म-संघ

धर्म-संघ की सुव्यवस्था के लिए महावीर ने संघ के सूत्रों का प्रतिपादन किया—

१. असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए संविभाग करो। दूसरों के हिस्से पर अधिकार मत करो।
 २. अनाश्रितों को आश्रय देने के लिए तत्पर रहो।
 ३. नये सदस्यों को शिक्षा देने के लिए तत्पर रहो।
 ४. रोगी की सेवा के लिए तत्पर रहो।
 ५. पारस्परिक कलह हो जाने पर किसी का पक्ष लिये बिना उसे शांत करने का प्रयत्न करो।
- सामाजिक संगठनों के लिए भी उपयोगिता कम नहीं है।

६. धर्म का स्वधर्म

१. धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है। किन्तु वही धर्म, जिसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है।
२. विषय-वासना, धन और सत्ता से जुड़ा हुआ धर्म संहारक विष की भांति खतरनाक होता है।
३. धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और हिंसापूर्ण उपासनाएं करने वाला अधर्म को प्रोत्साहन देता है।
४. चरित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश त्राण नहीं देते। धर्म और धर्म-संस्था एक नहीं हैं।
५. भाषा का पांडित्य और विद्याओं का अनुशासन मन को शांत नहीं करता। मन की शांति का एक ही साधन है, वह है धर्म।

निर्वाण

आत्मानुशासन के होने पर ही दूसरे शासन सफल हो सकते हैं, इस आधार-भित्ति पर महावीर ने जनमानस को धर्म-शासन में दीक्षित किया। ईस्वी पूर्व ५२७ में उनका निर्वाण हुआ। निर्वाण से पूर्व भगवान् ने दो दिन का उपवास किया। उस अवधि में वे धर्म का प्रवचन करते रहे। पर्यकासन में बैठे हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। मल्ल और लिच्छवि गणतंत्र के शासकगण और जनता ने दीप जलाकर निर्वाण-उत्सव मनाया। ज्योति की स्मृति में ज्योतिपर्व संस्थापित हो गया।

मानवीय एकता

मैंने एक बार पढ़ा, जैन धर्म में विश्वधर्म होने की क्षमता है। मैंने दूसरी बार पढ़ा, जैन धर्म विश्वधर्म है। मैं चिन्तन के गहरे में गया। मैंने मन ही मन सोचा—क्या ये विचार सत्य हैं? क्या जैन धर्म में विश्वधर्म होने की क्षमता है? क्या वह विश्वधर्म है? मैं विश्वधर्म के मानदण्डों से जैन धर्म को मापने लगा। जिसके अनुयायियों की संख्या विशाल हो वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या एक करोड़ से अधिक नहीं है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? जिसके अनुयायी विश्व के हर कोने में विद्यमान हों वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायी कुछेक देशों में विद्यमान हैं, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? जिसके अनुयायी सब जातियों और सब प्रकार के आवश्यक व्यवसाय करने वालों में हो वह विश्वधर्म हो सकता है, किन्तु जैन धर्म के अधिकांश अनुयायी वैश्य हैं, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? इन मानदण्डों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जैन धर्म अपने वर्तमान स्वरूप में विश्वधर्म नहीं है। मैं एक चरण पीछे लौटा और मैंने यह देखने का प्रयत्न किया—क्या जैन धर्म में विश्वधर्म होने की क्षमता है? मैं यह देखकर स्तम्भित रह गया कि उसमें विश्वधर्म होने की क्षमता भी नहीं है। मैं कुछ हताश-सा हो गया। जिस धर्म के प्रति मेरे मन में ममता है, श्रेष्ठता का संस्कार है, उसे परीक्षा के समय कल्पना की ऊंचाई पर नहीं पा सका, इसलिए हताश होना अस्वाभाविक नहीं था। मैंने अपने चरण अतीत की अनजानी राहों में बढ़ाए। मैं खोया-खोया-सा चलता चला। एक बिन्दु पर पैर ठिठक गए। कोई अपरिचित चेहरा मेरे पास आकर मेरे कानों में गुनगुनाने लगा।

‘मनुष्य जाति एक है।’ मैंने वह स्वर पहचान लिया। वह स्वर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का था। मैंने उनसे पूछा—

‘क्या यह सत्य है कि मनुष्य जाति एक है?’

‘यह काल्पनिक नहीं, वास्तविक सत्य है।’

‘फिर मनुष्य जाति का विभाजन किसने किया?’

‘मनुष्य ने।’

‘क्या यह ईश्वरीय नहीं है?’

‘यह ईश्वरीय होता तो भारत में ही क्यों होता? क्या ईश्वर भारत की सीमा में प्रतिबद्ध है?’

‘इसका आधार क्या है?’

‘वैदिक ऋषियों ने सामाजिक संगठन के लिए चार वर्णों की व्यवस्था की। इसका आधार सामाजिक संगठन है।’

‘क्या इस व्यवस्था का भारतीय समाज के विकास में कोई योग नहीं है?’

‘नहीं क्यों? इस व्यवस्था ने शिक्षण-संस्थानों की अल्पता में भी कला-कौशल की पैतृक परम्परा को सुरक्षित रखा है, विकसित किया है।’

‘फिर महावीर ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष क्यों किया?’

‘जन्मना जाति की व्यवस्था ने मनुष्यों में ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना पैदा की, समत्व के सिद्धान्त का विखण्डन किया। इस स्थिति में मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष नहीं होता तो अहिंसा अर्थहीन हो जाती।’

मैं आचार्य भद्रबाहु से अपनी जिज्ञासा का समाधान पा रहा था। इतने में मेरे कानों में एक ध्वनि टकराई—मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र। मैंने दो क्षण इस पर मनन किया। फिर भद्रबाहु से पूछा—‘क्या कर्मणा जाति का वाद मनुष्य जाति की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है?’

उन्होंने कहा—‘यह तात्त्विक नहीं है। केवल व्यवहार की उपयोगिता है। मनुष्य केवल मनुष्य है। वह विद्याजीवी होता है तब ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति उसी जीवन में रक्षा जीवी होता है तब क्षत्रिय, व्यवसाय-जीवी होकर वैश्य और सेवा जीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच में ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवार खड़ी नहीं करती।’

मैंने विनम्र वंदना कर कृतज्ञता प्रकट की और मैं आगे बढ़ा। अतीत की दहलीज को पार करते-करते मैं इन्द्रभूति गौतम के पास पहुंचा। ये थे भगवान् महावीर के सबसे ज्येष्ठ शिष्य—महावीर के सिद्धांतों के मुख्य प्रवक्ता और सूत्रकार। सूक्ष्म लोक में पहुंचकर मैंने उनसे सम्पर्क स्थापित किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रस्तुत की।

‘भंते! आप जाति से ब्राह्मण और वेदों के पारगामी विद्वान थे फिर आपने महावीर का शिष्यत्व क्यों स्वीकार किया?’

‘धर्म जाति से अतीत है, इसलिए मैं महावीर का शिष्य बना।’

‘क्या जैन धर्म जाति नहीं है?’

‘नहीं, सर्वथा नहीं। जाति का आधार आजीविका है, अर्थ-व्यवस्था है। धर्म का आधार आत्मा का अनुसंधान है। इसलिए सभी जातियों और वर्गों के लोग महावीर के शिष्य बने।’

मैं अतीत के गर्भगृह से वर्तमान के वातायान में लौट आया। मैंने युगधारा का अवगाहन किया तो पाया कि महावीर की अमृत आत्मा युग-चेतना की पार्श्वभूमि में आज भी विद्यमान है। उनकी वाणी की प्रतिध्वनि आज भी अनन्त के कण-कण में हो रही है। उनके सिद्धान्त आज भी सर्वव्यापी हैं।

महावीर ने सापेक्षवाद से विश्व की व्यवस्था की। उन्होंने कहा, एकता और अनेकता की धारा एक साथ प्रवाहित है। इस सह-अस्तित्व के प्रवाह में ‘या तुम या मैं’ के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम्हारे बिना मैं और मेरे बिना तुम नहीं हो सकते। तुम और मैं एक साथ ही हो सकते हैं। संघर्ष वास्तविक नहीं है। घृणा वास्तविक नहीं है। वास्तविक है सहयोग, वास्तविक है सभन्वय—अपने अस्तित्व के साथ दूसरों के अस्तित्व की स्वीकृति, अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति।

‘मानवीय एकता’ की स्वीकृति के साथ मानवीय अनेकता की स्वीकृति जुड़ी है। ‘सब मनुष्य एक हैं’—यह सापेक्ष सिद्धान्त है। सापेक्ष एकता अनेकता के बिना नहीं हो सकती। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रकृति और व्यवस्था-कृत-अनेकताएं भी हैं। उनके आधार पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। यह मानवीय एकता और अनेकता की तथ्यात्मक स्वीकृति है।

महावीर ने उक्त सिद्धान्त का धर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—मनुष्य जाति में एकता अनेकता—दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं और दोनों वास्तविक हैं। इसलिए ये धर्म का आधार नहीं बन सकते। यदि एकता के आधार पर हम मनुष्य जाति से प्रेम करें तो अनेकता के आधार पर द्वेष कैसे नहीं करेंगे? हम अनेकता को इसलिए द्वेष का आधार बनाते हैं कि एकता के आधार पर हम प्रेम करते हैं। इस द्वन्द्व के आधार पर होने वाला प्रेम धार्मिक का प्रेम नहीं होता। एकता और अनेकता के द्वन्द्व से परे जो द्वन्द्वातीत आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का अर्थ होगा—मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा और संघर्ष की समाप्ति।

महावीर ने धर्म की दृष्टि से मानवीय एकता की व्याख्या की, उसमें सम्प्रदाय को स्थान नहीं दिया। उसके मतानुसार कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय में दीक्षित है, उसे मूल्य नहीं दिया जा सकता। मूल्य इसका होगा कि कौन व्यक्ति कितना ऋजु, कितना

पवित्र और कितना कषायमुक्त है। जैन धर्म में दीक्षित होने वाला मुक्त नहीं भी हो सकता और अन्य धर्म में दीक्षित होने वाला मुक्त हो सकता है—इसका प्रतिपादन कर महावीर ने धर्म का सम्प्रदायातीत और भेदातीत स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत किया।

धर्म आत्मा की आन्तरिक पवित्रता है, इसलिए उसका किसी जाति, वर्ग और सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु धर्म का बाहरी रूप सम्प्रदाय में प्रकट होता है, इसलिए वह जाति और वर्ग से भी जुड़ जाता है। महावीर ने अपने धर्म-शासन का द्वार सब जातियों और सब वर्गों के लिए खुला रखा था। उन्होंने कल्पना ही नहीं की होगी कि उनका धर्म-शासन किसी एक जाति या वर्ग से जुड़कर दूसरों के लिए द्वार बन्द कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटनाचक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्म-शासन मानवीय अनेकान्त का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्तु महावीर के आधुनिक धर्म-शासन को मानवीय एकता के पक्षधर के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते।

अपरिग्रह मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे विश्व के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु जैन समाज को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

अनेकान्त मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे जागतिक समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक जैन शासन को सापेक्षता और समन्वय के महान् प्रयोगकार घटक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

सिद्धान्त और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध को देखकर प्रश्न होता है—क्या ये सिद्धान्त केवल मनोग्रही और बुद्धिग्राही हैं या व्यावहारिक भी हैं? यदि ये व्यावहारिक नहीं हैं तो इनको प्रस्तुत करने से क्या लाभ? यदि ये व्यावहारिक हैं तो जैन शासन इनके व्यवहार से वंचित क्यों? काल-चक्र की घटनाओं ने जैन शासन को इतना प्रभावित किया कि वह महावीर के मौलिक सिद्धान्तों की प्रयोग-भूमि नहीं रह सका। आज उस जैन शासन की अपेक्षा है जो महावीर के महान् सिद्धान्तों का प्रतिनिधि हो, जिसे महावीर के धर्म-शासन का उत्तराधिकार प्राप्त हो सके। इसकी अर्हता विश्व का कोई भी अंचल प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से मैं मान सकता हूँ कि जैन धर्म विश्व धर्म है।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज—ये दो वास्तविकताएं हैं। व्यक्तिवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त यह है—‘मनुष्य समाज से बाहर का मानव प्राणी है अथवा रह सकता है।’ इस मान्यता में यह विचार निहित है कि मनुष्य समाज में प्रवेश करने के पूर्व व्यक्ति विशेष हैं। वे अपनी संपत्ति, अधिकार, जीवन की सुरक्षा अथवा अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

समाजवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त यह है—व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव-विकास के इतिहास में व्यक्ति और समाज दोनों का समान रूप से प्रधान्य है।

अनेकान्त व्यक्ति और समाज की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों के मूल तत्व सन्निहित होते हैं। क्षमताओं का होना व्यक्ति की वैयक्तिकता है, उनका अभिव्यक्त होना व्यक्ति की सामाजिकता है। इसलिए व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति की वैयक्तिकता कभी खंडित नहीं होती। उसका कभी विनिमय नहीं होता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग बनकर भी व्यक्ति ही रहता है। इस अर्थ में व्यक्ति समाज से भिन्न भी है। व्यक्ति अपनी आकांक्षा, अपेक्षा और कर्म का विस्तार करता है, विनिमय और परस्परता का सम्बन्ध स्थापित करता है, इस अर्थ में व्यक्ति समाज से अभिन्न भी है। व्यक्ति अपनी आकांक्षा, अपेक्षा और कर्म का विस्तार करता है, विनिमय और परस्परता का सम्बन्ध स्थापित है, इस अर्थ में समाज से अभिन्न भी है। व्यक्ति की सीमा संवेदन है। एक व्यक्ति को प्रेम, हर्ष, भय और शोक का संवेदन होता है, वह नितान्त वैयक्तिक है। वह संवेदन साधारण नहीं है। उसका विनिमय नहीं होता। वह दूसरों को दिया नहीं जा सकता। विनिमय व्यक्ति और समाज के बीच का सेतु है। उसके इस ओर व्यक्ति है और उस ओर समाज। व्यक्ति का मूल आधार है संवेदन और समाज का मूल आधार है विनिमय। वस्तु सामाजिक है, क्योंकि उसका विनिमय किया जा सकता है। संवेदन वैयक्तिक है, क्योंकि उसका विनिमय नहीं किया जा सकता।

समाजशास्त्री मेकाइवर के अनुसार 'समाज सामाजिक संबन्धों का जाल है।' समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक पद्धति है, जिसके द्वारा हम जीते हैं। 'समाजशास्त्री ग्रीन के अनुसार 'समाज एक बड़ा समूह है जिससे हर व्यक्ति संबद्ध है।' इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सम्बन्ध स्थापित होता है और जीने के लिए हर व्यक्ति के लिए सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। संवेदन न स्थापित होता है और न वह जीने के लिए आधारभूत है। वह स्वाभाविक है। संवेदना की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक है और जीवन यापन की अपेक्षा से समाज वास्तविक है। इन दोनों की वास्तविकता में कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति समाज को वास्तविक मानकर ही सुखपूर्वक जी सकता है और समाज की वास्तविकता को ध्यान में रखकर सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा कर सकता है।

समाज-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व दो हैं—काम और अर्थ। काम की सम्पूर्ति के लिए सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता है। अर्थ काम-संपूर्ति का साधन बनता है। धर्म (विधि-विधान) के द्वारा समाज की व्यवस्था का संचालन होता है। प्राचीन समाजशास्त्रियों में से कुछेक ने काम को मुख्य माना और कुछेक ने धर्म को। महामात्य कौटिल्य ने अर्थ को मुख्य माना। उन्होंने कहा—काम और धर्म का मूल अर्थ है। इसलिए इस त्रिवर्ग में अर्थ ही प्रधान है। आधुनिक समाजवादी समाज-व्यवस्था में भी अर्थ की प्रधानता है। वह अर्थ पर ही आधारित है। अर्थाधारित समाज-व्यवस्था में व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य नहीं हो सकता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नियंत्रित किए बिना समाजवादी व्यवस्था फलित नहीं हो सकती। व्यक्ति अपने संवेदनों को जितना मूल्य देता है, उतना दूसरों के संवेदनों को नहीं देता। इसलिए व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था में दो स्थितियां निर्मित हुईं—स्वार्थ की अपेक्षा और परार्थ की अपेक्षा। फलतः उस व्यवस्था से अप्रामाणिकता, अनैतिकता, शोषण और भ्रष्टाचार जैसी बुराइयां पनपीं। इन बुराइयों से संतुष्ट समाज ने समाजवादी व्यवस्था के द्वारा स्वार्थ और परार्थ की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। व्यक्ति को व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था जितना स्वतन्त्र मूल्य दिए जाने पर उस खाई को पाटा नहीं जा सकता। इसलिए इस व्यवस्था में व्यक्ति को समाज के एक पुर्जे का स्थान देना पड़ा।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था में सामाजिक विषमता फलित होती है। उसमें कुछ लोग सम्पन्न होते हैं और जन-साधारण विपन्न रहता है। सम्पन्न लोग भोग-विलास में आसक्त रहते हैं। वे अपनी सुख-सुविधा की ही चिन्ता करते हैं, दूसरों के हितों

की चिन्ता नहीं करते। उनकी इन्द्रियपरक आवश्यकताएं बढ़ जाती हैं। वे भोग से हटकर अन्य विषयों पर विचार के लिए समय ही नहीं निकाल पाते। विपन्न लोगों को इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त श्रम करना होता है। उन्हें विचार का अवसर ही नहीं मिलता। इस इन्द्रियपरक समाज-रचना में सामाजिक विषमता चलती रहती है। राजतन्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विचारपरक समाज-रचना का श्रीगणेश उन लोगों ने किया जो भोग में लिप्त नहीं थे। उस विचारपरक समाज-रचना ने ही समाजवादी समाज-व्यवस्था को जन्म दिया। महावीर ने न समाज की व्यवस्था की और न समाज-व्यवस्था का दर्शन दिया। उन्होंने धर्म की व्याख्या की और धर्म का दर्शन दिया। वह धर्म-दर्शन न व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। वह आत्मवादी है। व्यक्ति का मानदण्ड संवेदन है और समाज का मानदण्ड विनिमय। धर्म का मानदण्ड इन दोनों से भिन्न है। उसका मानदण्ड संवेदनातीत चेतना और अकर्म है।

जैन दर्शन समाज-व्यवस्था का सूत्र नहीं देता, काम और अर्थ का दिशा-निर्देश नहीं देता, जीवन की समग्रता का दर्शन नहीं देता, इसलिए वह अपूर्ण है। यह तर्क उपस्थित किया है और यह तथ्य से परे भी नहीं है। जैन दर्शन में मोक्ष की मीमांसा प्रधान है। मोक्षवादी दर्शन का मुख्य कार्य धर्म की मीमांसा करना होता है। इस संदर्भ में धर्म का अर्थ भी बदल जाता है। काम और अर्थ के संदर्भ में धर्म का अर्थ समाज-व्यवस्था के संचालन का विधि-विधान होता है। मोक्ष के संदर्भ में उसका अर्थ होता है—चेतना का शोधन। महावीर ने जितने निर्देश दिए वे सब चेतना की शुद्धि के लिए दिए। उन निर्देशों से अर्थ और काम प्रभावित होते हैं, किंतु इनके लिए महावीर ने कुछ किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्या मोक्षवादी दर्शन ऐसा कर सकता है?

हिंसा और परिग्रह को सर्वथा समाज-व्यवस्था में से पृथक् नहीं किया जा सकता। मोक्ष-धर्म का मौलिक आधार है—अहिंसा और अपरिग्रह। अतः समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म को एक आधार नहीं दिया जा सकता। मोक्ष-धर्म समाज-व्यवस्था को हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण का दिशा-निर्देश देता है। यह समाजवादी समाज-व्यवस्था के हितपक्ष में है, इसलिए इस बिन्दु पर इन दोनों का मिलन हो सकता है। किंतु दोनों का मौलिक आधार एक नहीं है।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था स्वार्थ-शासित थी, इसलिए उसमें व्यक्तिगत संग्रह पर कोई अंकुश नहीं था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ क्रूरता के लिए भी पूरा

अवकाश था। समाजवादी समाज-व्यवस्था राज्य-सत्ता से शासित है, इसलिए इसमें सम्पत्ति पर समाज का प्रभुत्व है। उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। मोक्ष-धर्म से प्रभावित समाज-व्यवस्था करुणा-शासित होती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और संग्रह पर अंकुश—दोनों फलित हो सकते हैं। किन्तु इसके लिए सामाजिक चरित्र की ओर अधिक उदात्त करने की अपेक्षा है।

क्या अनेकांत के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती? क्या हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह में अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता? अनेकांतवादी समन्वय और सापेक्षता के द्वारा विरोध में अविरोध की व्याख्या करते हैं, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु हम इस तत्त्व की उपेक्षा कर अनेकांत को नहीं समझ सकते कि जिस गुण की अपेक्षा से विरोध होता है, उसी गुण की अपेक्षा से अविरोध नहीं होता। पदार्थ में नित्य और अनित्य—दोनों गुण अविरोधी हैं। किंतु जिस गुण की अपेक्षा पदार्थ नित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह अनित्य नहीं है और जिस गुण की अपेक्षा वह अनित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह नित्य नहीं है। किन्तु नित्य और अनित्य—दोनों गुण एक ही पदार्थ में अविरोधी भाव से रहते हैं। इसीलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक होता है और उस पदार्थ की सापेक्ष-दृष्टि से सामंजस्यपूर्ण व्याख्या की जा सकती है। समाज-व्यवस्था में हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह—दोनों तत्त्व अविरोधभाव से रहते हैं। अनेकांत के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती। हिंसा और अहिंसा तथा परिग्रह और अपरिग्रह में अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता किंतु समाज-व्यवस्था के साथ उनके सहावस्थान की व्याख्या की जा सकती है। हिंसा और परिग्रह को समाज-व्यवस्था से पृथक् नहीं किया जा सकता, इस अपेक्षा से समाज व्यवस्था और मोक्ष-धर्म में एकता नहीं है। समाज-व्यवस्था में हिंसा और परिग्रह की अल्पता की जा सकती है, इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म में एकता है।

धर्म संवेदनातीत होने के कारण वैयक्तिक नहीं है, आत्मिक है। किंतु वह व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक भी है। नैतिकता व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक है, किंतु वह दूसरे के प्रति होती है, इसलिए सामाजिक भी है। वह सामाजिक है किंतु सामाजिक आचार-संहिता से अभिन्न नहीं है। समाज की आचार-संहिता देश-काल के भेद से भिन्न-भिन्न, परिवर्तनशील और समाज की उपयोगिता के आधार पर निर्मित होती है। नैतिकता देश और काल की

धारा में एकरूप, अपरिवर्तनशील और धर्म से प्रभावित होती है। धर्म और नैतिकता को शाश्वत सत्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, समाज की आचार-संहिता को उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे दोनों व्यक्ति की आंतरिक अवस्थाएँ हैं। समाज की आचार-संहिता समाज का बाहरी नियमन है। यह शुद्ध अर्थ में सामाजिक है। नैतिकता उद्गम में वैयक्तिक और व्यवहार में सामाजिक है। धर्म शुद्ध अर्थ में आत्मिक और व्यवहार में वैयक्तिक है।

त्रिवर्ग में अर्थ और काम के साथ जिस धर्म का उल्लेख है वह सामाजिक आचारसंहिता ही है। इसलिए महावीर ने काम, अर्थ और धर्म को लौकिक व्यवसाय कहा है। स्मृतियों में इसी धर्म की व्याख्या अधिक मात्रा में हुई है। सहस्राब्दियों से भारत की बहुसंख्यक जनता ने इसी को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार किया है। इसी के आधार पर उसमें अनेक अवांछनीय तत्त्व विकसित हुए, जिनका आज के समाजशास्त्री धर्म की इन कुसेवा के रूप में वर्णन करते हैं—

१. रूढ़िवादिता—धर्म ने रूढ़िवादिता को जन्म दिया। उसके नाम पर जनता परम्परा और रीति-रिवाज को तोड़ने का साहस नहीं कर सकी।
२. शोषण—धर्म के नाम पर स्त्रियों का अत्यधिक शोषण होता रहा है। कर्मवाद के सिद्धांत ने गरीबों के शोषण के विरुद्ध क्रांति करने से रोका है।
३. आलस्य और भाग्यवाद—धर्म ने भाग्यवाद को प्रचारित किया। फलतः जनता आलसी और अकर्मण्य हो गई।
४. हिंसा और युद्ध—मानव इतिहास के पृष्ठ धर्म के नाम पर किए गए नर-संहार और जिहादों से भरे पड़े हैं।
५. घृणा—समाज में जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत के लिए धर्म उत्तरदायी है।

समाजशास्त्रीय साहित्य में धर्म और नैतिकता का अंतर इस आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि कुछ बातें नैतिकता की दृष्टि से गलत किंतु धर्म की दृष्टि से सही होती हैं। कभी-कभी धर्म समाजहित के विरोधी आचरण का विधान करता है। धर्म ने छुआछूत का विधान किया। नैतिकता की दृष्टि से यह गलत है। एक पत्नी अपने क्रूर और दुष्ट पति को नहीं छोड़ सकती—धर्म की दृष्टि से यह सही है किंतु नैतिकता की दृष्टि से गलत है। सचार्थ यह है कि नैतिकता मनुष्य को आगे ले जाती है और धर्म मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देता है।

इस समूची समाजशास्त्रीय समालोचना का आधार वह स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म या त्रिवर्ग का धर्म है। जैन, बौद्ध, सांख्य और वेदांत ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसके विषय में इस प्रकार की समालोचना नहीं की जा सकती। इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म शाश्वत सत्य की व्याख्या है। उसकी परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं है। धर्म के नाम पर समाज-व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। परिवर्तनशील तत्त्व को अपरिवर्तनशील तत्त्व के नाम से प्रचारित करने पर रूढ़िवादिता पैदा होती है। स्मृतिकारों ने परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था का विधान किया। यदि उसका प्रस्तुतीकरण शाश्वत सत्य के रूप में नहीं होता तो धर्म का रूढ़िवादी रूप हमारे सामने नहीं होता। स्त्रियों की हीनता का प्रतिपादन भी स्मार्त धर्म की समाज-व्यवस्था का अंग है। शाश्वत धर्म से उसका कोई सम्बंध नहीं है।

महावीर ने कर्मवाद की सबसे अधिक व्याख्या की है। उनका कर्मवाद इस बात का समर्थन नहीं करता कि गरीब-गरीब ही रहेगा और उसे अपना कर्मफल भोगने के लिए अमीरों के द्वारा किए गए शोषण को सहन करना पड़ेगा। गरीबी और अमीरी सामाजिक अवस्थाएँ हैं। इनका संबंध समाज की व्यवस्था से है, कर्मवाद से नहीं है।

महावीर ने पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया। उनके धर्म में आलस्य और अकर्मण्यता को कोई स्थान नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म के परिणामों में भारी परिवर्तन किया जा सकता है।

महावीर ने अहिंसा को सर्वोच्च धार्मिक मूल्य दिया। उनका सूत्र है—अहिंसा धर्म है, धर्म के लिए हिंसा नहीं की जा सकती। धर्म की रक्षा अहिंसा से होती है, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा नहीं की जा सकती।

महावीर ने घोषणा की—मनुष्य जाति एक है। जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत—ये हिंसा के तत्त्व हैं। अहिंसा धर्म में इनके लिए कोई अवकाश नहीं है।

महावीर ने धर्म के तीन लक्षण बतलाए—अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों आत्मिक और वैयक्तिक हैं। इनसे फलित होने वाला चरित्र नैतिक होता है। राग-द्वेषमुक्त चेतना अहिंसा है। यह धर्म का आध्यत्मिक स्वरूप है। जीव की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, परिग्रह नहीं रखना—यह धर्म का नैतिक स्वरूप है। राग-द्वेष-मुक्त चेतना आत्मिक स्वरूप ही है। वह किसी दूसरे के प्रति नहीं और उसका सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं है। जीव की हिंसा नहीं करना—यह दूसरों के प्रति आचरण है। इसलिए यह नैतिक है। नैतिक नियम धर्म

के आध्यात्मिक स्वरूप से ही फलित होता है। इसका उद्गम धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही है। इसलिए यह धर्म से भिन्न नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर और थॉमस हक्सले तथा आधुनिक प्रकृतिवादी और मानवतावादी चिंतकों ने धर्म और नैतिकता को पृथक् स्थापित किया है। यह संगत नहीं है। जो आचरण धर्म की दृष्टि से सही है, वह नैतिकता की दृष्टि से गलत नहीं हो सकता। धर्म अपने में और नैतिकता दूसरों के प्रति—इन दोनों में यही अंतर है। किंतु इनमें इतनी दूरी नहीं है, जिससे एक ही आचरण तो धर्म का समर्थन और नैतिकता का विरोध प्राप्त हो। समाजशास्त्रियों ने धर्म और नैतिकता के भेद का निष्कर्ष स्मृति-धर्म के आधार पर निकाला। उस धर्म को सामने रखकर धर्म और नैतिकता में दूरी प्रदर्शित की जा सकती है। धर्म के द्वारा समर्थित आचरण को नैतिकता का विरोध प्राप्त हो सकता है। वह धर्म रूढ़िवाद का समर्थक होकर समाज की गतिशीलता का अवरोध बन सकता है।

धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप आत्म-केन्द्रित और उसका नैतिक स्वरूप समाज-व्यापी है। इस प्रकार धर्म दो आयामों में फैला हुआ है। इस धर्म में दोनों रूप शाश्वत सत्य पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं। स्मृति-धर्म (समाज की आचार-संहिता) देशकाल की उपयोगिता पर आधारित है। इसलिए यह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील धर्म की अपरिवर्तनशील धर्म के रूप में स्थापना और स्वीकृति होने के कारण ही धर्म के नाम पर समाज में वे बुराइयां उत्पन्न हुईं जिनकी चर्चा समाजशास्त्रियों ने की है।

स्मृति-धर्म ने अर्थ के अर्जन और भोग का दिशा-निर्देश दिया है, काम-सेवन की दिशाएं भी प्रदर्शित की हैं। यह दिशा-निर्देश करना स्मृति-धर्म का ही काम है। शाश्वत धर्म का यह काम नहीं है। उसके द्वारा यदि काम और अर्थ की परिवर्तनशील व्यवस्था का दिशा-निर्देश हो तो वह शाश्वत का रूप लेकर समाज की भावी व्यवस्थाओं में गतिरोध पैदा कर देता है, जैसा कि आज हो रहा है। स्मृति-धर्म द्वारा प्रतिपादित काम और अर्थ की व्यवस्था में शाश्वत धर्म का सहयोग हो सकता है। महावीर ने यह सहयोग किया था। उन्होंने गृहस्थों की धर्म-संहिता (या नैतिक संहिता) में जो नियम निश्चित किए, उनसे समाज-व्यवस्था को भी बहुत सहारा मिला। उदाहरण स्वरूप इन नियमों का निर्देश किया जा सकता है—

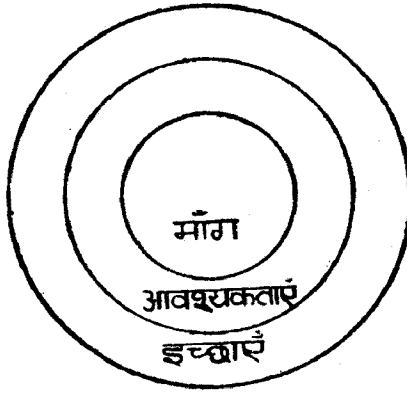
१. अपने कर्मकारों की आजीविका का विच्छेद न करना।
२. पशुओं पर अधिक भार न लादना।
३. झूठी साक्षी न देना।

४. अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त किसी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन न करना ।
५. संग्रह की एक निश्चित सीमा करना । उस सीमा से अतिरिक्त संग्रह न करना ।
६. धन-संग्रह और भोगवृद्धि के लिए दूसरे देशों में न जाना, आदि-आदि ।

महावीर ने अर्थार्जन और काम-सेवन में होने वाली आसक्ति को कम करने का विधान किया । किन्तु उनके उपभोग का विधान नहीं किया । उन्होंने धर्माचार्य की सीमा का काम किया, किन्तु समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और कामशास्त्री की सीमा का काम नहीं किया । इस अर्थ में यदि कोई उनके दर्शन को अपूर्ण माने तो माना जा सकता है । उनके अनुयायी को दूसरी व्यवस्थाओं पर निर्भर होना पड़ता है—यदि कोई यह आरोप लगाए तो लगाया जा सकता है । शाश्वत धर्म की यह अपूर्णता और पर-निर्भरता न हो तो स्मृति-धर्म शाश्वत धर्म के स्वरूप को ही धुंधला कर देगा । पूर्णता और आत्म-निर्भरता सापेक्ष ही हो सकती है । धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक हो सकता है, किन्तु अर्थ और काम की अपेक्षा से वह वास्तविक नहीं है । अर्थ और काम की अपेक्षा से समाज वास्तविक हो सकता है, किन्तु धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से वह वास्तविक नहीं है । व्यक्ति वास्तविक और समाज अवास्तविक—व्यक्तिवादी दार्शनिकों की इस स्वीकृति ने व्यक्ति को अर्थ-संग्रह की असीमित स्वतन्त्रता देकर शोषण की समस्या को जन्म दिया । समाज वास्तविक और व्यक्ति अवास्तविक—समाजवादी दार्शनिकों की इस स्वीकृति ने व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता को राज्य-प्रतिबद्ध कर मानव के यंत्रीकरण की समस्या को जन्म दिया । व्यक्ति और समाज की सापेक्ष वास्तविकता की स्वीकृति ही इन समस्याओं से समाज को मुक्ति दे सकती है ।

धर्म से आजीविका : इच्छा परिमाण

भगवान् महावीर ने कहा—‘इच्छा आकाश के समान अनन्त है।’ यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है। अर्थशास्त्र के अनुसार मांग से आवश्यकता का क्षेत्र बड़ा होता है। इच्छा का क्षेत्र उससे भी बड़ा होता है। सभी इच्छाएं आवश्यकताएं नहीं हो सकतीं, जबकि सभी आवश्यकताएं इच्छाएं अवश्य होती हैं। इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र संकुचित और मांग का क्षेत्र उससे भी संकुचित होता है।



इच्छा नैसर्गिक होती है। आवश्यकताएं भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति-रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, आर्थिक परिस्थिति और धार्मिक-भावना के द्वारा निर्धारित होती हैं।

१. आवश्यकता—आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते हैं जिसको पूरा करने के लिए उसके पास पर्याप्त धन हो और साथ ही वह मनुष्य उस धन को खर्च करने के लिए तैयार भी हो।
२. मांग—मांग उस आवश्यकता को कहते हैं जिसकी संतुष्टि की जा चुकी है।

१. आर्थिक परिस्थिति द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—गरीब व्यक्ति की आवश्यकताएं सीमित तथा सादी होती हैं। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओं को ही पूर्ण कर पाता है। धनी व्यक्ति की आवश्यकताएं उससे बहुत अधिक होती हैं। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओं को ही पूर्ण नहीं करता, विलासितायुक्त आवश्यकताओं को भी पूर्ण करता है।
२. धार्मिक भावना के द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—धार्मिक व्यक्ति की आवश्यकताएं नैतिक दृष्टि से प्रभावित होती हैं। वह जिन नैतिक आदर्शों को मानता है उन्हीं के आधार पर अपनी आवश्यकताओं का निर्माण करता है। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम और सादा होती हैं। किन्तु भौतिक मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकताएं उसकी तुलना में बहुत अधिक और बहुत प्रकार की होती हैं।

आवश्यकता का गढ़ा इतना गहरा है कि उसे कभी भरा नहीं जा सकता। इस सत्य की स्वीकृति धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—दोनों ने की है। भगवान् ने कहा—‘लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है।’ एक आवश्यकता पूर्ण होती है तो दूसरी नई आवश्यकता जन्म ले लेती है। आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर अशांति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की असीमितता के कारण मनुष्य की शांति भंग होती है। अर्थशास्त्र में भी आवश्यकता की अपूरणीयता प्रतिपादित है। डॉ० मार्शल ने लिखा है—‘मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं असंख्य और अनेक प्रकार की होती हैं।’^१ यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी नई आवश्यकता समाने खड़ी हो जाती है। जीवन-पर्यन्त अपनी सभी आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर ‘प्रगति का नियम’ (Law of Progress) स्थापित किया। उनका मत है कि असीमित आवश्यकताओं के कारण ही नये-नये आविष्कार होते हैं। फलस्वरूप समाज की आर्थिक प्रगति होती है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार अर्थ है। इन दृष्टिकोण से आर्थिक प्रगति बहुत आवश्यक है। आवश्यकताओं के सीमित होने पर आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसलिए आर्थिक विकास की दृष्टि

से आवश्यकताओं का विस्तार जरूरी है। इसी वस्तु-सत्य को ध्यान में रखकर एक प्राचीन अर्थशास्त्री ने कहा था—‘असंतुष्ट संन्यासी नष्ट हो जाता है और संतुष्ट राजा नष्ट होता है।’ संन्यासी के लिए आवश्यकताओं को कम करना गुण है और उनका विस्तार करना दोष है। सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यकताओं को कम करना दोष है और उनका विस्तार करना गुण है।

‘मनुष्य सामाजिक प्राणी है’—इस वास्तविकता के संदर्भ में अर्थशास्त्र का आवश्यकताओं को असीमित करने का दृष्टिकोण गलत नहीं है। किन्तु मनुष्य क्या केवल सामाजिक प्राणी ही है? क्या वह व्यक्ति नहीं है? क्या उसमें सुख-दुःख का संवेदन नहीं है? क्या असीमित आवश्यकताओं का दबाव उसमें शारीरिक और मानसिक तनाव पैदा नहीं करता? क्या आवश्यकता के विस्तार के पीछे खड़ा हुआ इच्छा का दैत्य शारीरिक ग्रन्थियों के स्राव को अस्त-व्यस्त और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर देता? इन समस्याओं की ओर ध्यान न देकर ही हम आवश्यकताओं के विस्तार का ऐकान्तिक समर्थन कर सकते हैं। किन्तु जब मनुष्य को मानवीय पहलू से देखते हैं तब हम इच्छाओं की असीमितता का समर्थन नहीं कर सकते। इस मानवीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इच्छाओं को सीमित करना जरूरी है।

अर्थशास्त्रीय और धार्मिक—ये दोनों दृष्टिकोण अपने-अपने विषयक्षेत्र की दृष्टि में ही सत्य हैं। धर्मशास्त्र कहता है—‘आवश्यकता को कम करो।’ तब हमें इस सत्य की ओर से आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिए कि यह प्रतिपादन मानसिक अशांति की समस्या को सामने रखकर किया गया है। अर्थशास्त्र कहता है—‘आवश्यकताओं का विस्तार करो।’ तब हमें इस वास्तविकता से आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिए कि इस सिद्धांत का प्रतिपादन मनुष्य की सुख-सुविधा के विकास को ध्यान में रखकर किया गया है। महावीर ने सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह की बात नहीं कही। वह मुनि के लिए संभव है। सामाजिक प्राणी के लिए उन्होंने, इच्छा-परिमाण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। सामाजिक मनुष्य इच्छाओं और आवश्यकताओं को समाप्त कर जीवन को नहीं चला सकता और उनका विस्तार कर शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। इसलिए उन्होंने दोनों के मध्यवर्ती सिद्धांत (इच्छा-परिमाण) का प्रतिपादन किया।

जीवन के प्रति धर्मशास्त्र का जो दृष्टिकोण है उससे अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न है। धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या आंतरिक चेतना के विकास के पहलू से करता है। अर्थशास्त्र जीवन की व्याख्या आर्थिक क्रियाओं के माध्यम

से करता है। दोनों व्याख्याओं की पृष्ठभूमि और दृष्टिकोण एक नहीं है। इसलिए धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का समर्थन नहीं करता। किन्तु धर्म और धन—दोनों का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है, इसलिए जीवन के कुछ बिन्दुओं पर उनका संगम होता है। वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—‘इच्छाओं को संतोष से जीतो।’ अग्नि में ईंधन डालकर उसे बुझाया नहीं जा सकता, वैसे ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओं को संतुष्ट नहीं किया जा सकता। आवश्यकताओं की वृद्धि, वस्तुओं की वृद्धि, उत्पादन और श्रम की वृद्धि में योग देती है। किन्तु सुख और शांति में भी योग देती है—यह मान्यता भ्रांतिपूर्ण है। आवश्यकताओं की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किन्तु सुख और शांति का स्तर उन्नत होता है—यह नहीं माना जा सकता।

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण यह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओं को नहीं छोड़ पाता। महावीर ने गृहस्थ को इनके त्याग का निर्देश नहीं दिया। विलासिता कोटि की आवश्यकताएं धार्मिक को छोड़नी चाहिए—इस आधार पर ‘इच्छा-परिमाण’ की सीमा-रेखा खींची जा सकती है।

अनिवार्यता और सुविधा कोटि की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओं और इच्छाओं का संयम करना आवश्यक है। इसमें आर्थिक विकास और उन्नत जीवन-स्तर की संभावनाओं का द्वार बन्द भी नहीं है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन-स्तर का द्वार खुला भी नहीं है।

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्रकार है—‘सुख-दुःख के आधार के अनुसार आवश्यकताओं का वर्गीकरण इस बात से निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को सुख मिलता है या उपभोग न करने से उसे दुःख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को थोड़ा-सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से बहुत दुःख का अनुभव होता है तब ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेंगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु उसका उपभोग न करने से थोड़ा-सा दुःख होता है तब ऐसी वस्तु के उपभोग करने से अत्यन्त सुख अनुभव होता है तथा उसका उपभोग न करने से दुःख होता (सिवाय इसके कि जब मनुष्य उस वस्तु के उपभोग का आदि होता है) तब उसको विलासिता की वस्तु कहते हैं।

यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से बहुत कष्ट होता है तब उसको धनोत्सर्गिक वस्तु कहते हैं।

सुख-दुःख के आधार पर आवश्यकताओं के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मनुष्य के सुख-दुःख पर प्रभाव

वस्तुएं	वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग न करने पर
अनिवार्यताएं	थोड़ा-सा सुख मिलता है।	बहुत दुःख होता है।
सुखदायक वस्तुएं (सुविधाएं)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोड़ा दुःख होता है।
विलासिताएं	बहुत सुख मिलता है।	दुःख नहीं होता। ^१

अर्थशास्त्री की दृष्टि में नैतिकता और शांति—ये सब गौण होते हैं। उसके सामने मुख्य प्रश्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म-गुरु की दृष्टि में आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शांति का प्रश्न मुख्य होता है।

धर्म-गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म में दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओं की सर्वथा उपेक्षा कर उसके लिए अपशिष्ट के नियमों की संरचना नहीं कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' व्रत के परिपार्श्व में महावीर ने इन नैतिक नियमों का निर्देश दिया—

१. झूठा तोल-माप न करना।
२. मिलावट न करना।
३. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न बेचना।

समाज के संदर्भ में इच्छा-परिमाण के नियामक तत्त्व दो हैं—प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के संदर्भ में उसका नियामक तत्त्व है—संयम। झूठा तोल-माप आदि न करने के पीछे संयम की प्रेरणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे संयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन में अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग

१. एम. एल. सेट, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ. १०-११।

नहीं करते थे और व्यक्तिगत जीवन की सीमा रखते थे। धन के अर्जन में प्रामाणिक साधनों का उपयोग न करना, संग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का संयम करना—ये तीनों मिलकर 'इच्छा-परिमाण' व्रत का निर्माण करते हैं।

यह आर्थिक विपन्नता का व्रत नहीं है। धर्म और गरीबी में कोई सम्बन्ध नहीं है। गरीब आदमी ही धार्मिक हो सकता है या धार्मिक को गरीब होना चाहिए—यह चिन्तन महावीर की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन में शांति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी—दोनों से दूर होकर त्यागी होता है। हमने धर्म को एक जाति का रूप दे दिया। हमारे युग के धार्मिक जन्मना धार्मिक हैं। जो व्यक्ति जिस परम्परा में जन्म लेता है, उस वंश-परम्परा का धर्म उसका धर्म हो जाता है। जन्मना धार्मिक के लिए इच्छा-परिमाण का व्रत अर्थवान् नहीं है। यह उन लोगों के लिए अर्थवान् है जो कर्मणा धार्मिक होते हैं। ऐसे धार्मिक, साधु-संन्यासियों जितने विरल नहीं, फिर भी जनसंख्या की अपेक्षा विरल ही होते हैं। इसलिए उनके आधार पर न तो आर्थिक मान्यताएं स्थापित होती हैं और न वे आर्थिक प्रगति में अवरोध बनते हैं। अधिकांश धार्मिक जन्मना धर्म के अनुयायी होते हैं। वे आवश्यकताओं की कमी, अर्थ-संग्रह की कमी, विलासिता के संयम और नैतिक नियमों में विश्वास नहीं करते। उनका धर्म नैतिकता-शून्य धर्म होता है। धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक होना आवश्यक नहीं मानते। वे धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं, पर उनका आचरण नहीं करते। ऐसे धार्मिकों का धर्म आर्थिक प्रगति को प्रभावित नहीं करता।

अर्थशास्त्र में आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता बढ़ाने का सिद्धांत है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष में नहीं हैं। आवश्यकताओं को बढ़ाने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या संतोष प्राप्त होता है।
२. आवश्यकताओं की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवनस्तर की उन्नति में सहायक होती है।
३. आवश्यकताओं की वृद्धि से धन के उत्पादन में वृद्धि होती है।
४. आवश्यकताओं की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है फलतः वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा में आत्म-निर्भर

हो जाता है ।

आवश्यकता को बढ़ाने के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य दुःख-क्लेश का अनुभव करता है ।
२. आवश्यकताओं की वृद्धि और फिर उनकी संतुष्टि के लिए निरन्तर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी बनाता है ।
३. आवश्यकताओं की वृद्धि से समाज में वर्ग-संघर्ष (class struggle) हो जाता है ।
४. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग करता है ।

अनेकान्त की दृष्टि से मीमांसा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यांश दोनों के मध्य में है । आवश्यकताओं की अत्यन्त कमी में सामाजिक उन्नति नहीं होती—यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नहीं है तो आवश्यकताओं की अत्यन्त वृद्धि होने पर दुःख या क्लेश बढ़ता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नहीं है । इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण में वृद्धि करना है ।^१ सीमित साधनों में असीमित आवश्यकताओं की संतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है । किन्तु जिस अनुपात में आवश्यकताओं की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात में उनकी संतुष्टि नहीं की जा सकती । सभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर सकते । अधिकांश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओं (अनिवार्यताओं) की संतुष्टि कर पाते हैं । मध्यम आवश्यकताओं (सुविधाओं) की संतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं । मन्द आवश्यकताओं (विलासिताओं) की संतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते हैं । इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण—‘लोभ से लोभ बढ़ता है’—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओं की वृद्धि के क्रम में कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले मानसिक असंतोष और अशान्ति की चिकित्सा नहीं की जा सकती । अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शान्ति की आहुति नहीं दी जा सकती । इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है । यदि मनुष्य समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोषण, आक्रमण और

1. Alfred Marshall, *Principal of Economics*, P. 1.

उच्छृंखल प्रवृत्तियों से बचना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इसी अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा-परिमाण' का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस आदर्श में अनिवार्यताओं और सुविधाओं को छोड़ने की शर्त नहीं है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओं की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नहीं है। 'इच्छा-परिमाण' के सिद्धांत में अर्थशास्त्रीय आवश्यकता-वृद्धि के सिद्धांत से मौलिक भिन्नता दो विषयों की है। पहली भिन्नता यह है—अर्थशास्त्र विलासिताओं के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. विलासिताओं के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।
२. कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।
३. जीवन-स्तर ऊंचा होता है।
४. धन संग्रह होता है। संकट के समय वह (आभूषण आदि) सहायक सिद्ध होता है।
५. कला-कौशल, कारीगरी तथा उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलता है।

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओं के उपभोग के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओं के उपयोग से—

१. वर्ग-विषमता (class inequality) बढ़ती है।
२. उत्पादन-कार्यों के लिए पूंजी की कमी हो जाती है।
३. निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेष तथा घृणा की वृद्धि होती है।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है, किन्तु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है।

दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र में नैतिक-नियमों की अनिवार्यता स्वीकृत नहीं है। नैतिक नियमों की अवेहलना उसका उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है। उसकी प्रकृति उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ है—आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता। नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नहीं है, इसलिए वह उपयोगी भी नहीं है। वही वस्तु उपयोगी हो सकती है जो लाभदायी हो। जो प्रवृत्तिकाल और परिणामकाल—दोनों में सुखद न हो, वह लाभदायक नहीं हो सकती और जो लाभदायक नहीं हो सकती वह उपयोगी नहीं हो सकती। अर्थशास्त्र में उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है। उसमें

उपयोगिता के साथ लाभदायकता का अनुबन्ध नहीं है। आवश्यकता को संतुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी उपयोगी हो सकती है। मद्यपान निश्चित रूप से हानिकारक है। किन्तु मद्य में मद्यप के लिए उपयोगिता है। मद्यप मद्य की आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को संतुष्ट करता है। प्रो. रोबिन्सन का मत है कि अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक विषयों का अध्ययन किया जाता है जिनका मानवीय-कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत कमी होने की सम्भावना है। फिर भी मद्य-उद्योग का अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है, क्योंकि मद्य-निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते हैं।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अन्तर उसकी प्रकृति का अन्तर है। दोनों की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि—

१. नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन करते हैं।
२. नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। आर्थिक नियमों का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नहीं होती।
३. नैतिक नियमों का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमों का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

इस प्रकृति-भेद को समझ लेने पर धर्मशास्त्र के विधि-विधान की दूरी स्वयं बुद्धिगम्य हो जाती है। अर्थशास्त्र में नैतिकता के लिए सर्वथा अवकाश नहीं, ऐसी बात नहीं है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणों को कार्य-कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्त्वों के रूप में स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र—ये दोनों समाजशास्त्र के ही अंग हैं। इन दोनों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र में मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र में आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है। वह हमें बताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। नीतिशास्त्र उचित और अनुचित में भेद करने का आदेश देता है और हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देशों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ डॉ. मार्शल ने सदाचार के आधार

पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया। जैसा कि प्रो. सैलिगमैन (Saligman) ने कहा है—'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामतः सदाचारिक होना चाहिए।' इस प्रकार अर्थशास्त्री आर्थिक नीति के निर्माण में नीतिशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्य के चरित्र तथा आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डालती हैं। अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, इस बात से निश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है।^१

महावीर ने कहा—'इच्छा का परिमाण नहीं करने वाला मनुष्य अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मनुष्य धर्म से आजीविका कमाता है। अधर्म या धर्म से आजीविका कमाने में आर्थिक परिस्थितियाँ निमित्त बनती हैं, किन्तु उनका उत्पादन कारण अनाशक्ति तथा धर्मश्रद्धा का तारतम्य है।

'इच्छा-परिमाण' निष्कर्ष सापेक्ष में इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१. न गरीब और न विलासिता का जीवन।
२. धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं है।
३. आवश्यकता की संतुष्टि के लिए धन का अर्जन किन्तु दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।
४. आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और उनकी संतुष्टि के साधनभूत धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण।
५. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर संग्रहित धन में अनाशक्ति का विकास।
६. धन के संतुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन।
७. विसर्जन की क्षमता का विकास।

१. एम. एल. सेठ : आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ. ३३।

मनुष्य की स्वतन्त्रता का मूल्य

यदि यह जगत् अद्वैत होता—एक ही तत्त्व होता, दूसरा नहीं होता तो स्वतंत्र और परतंत्र की मीमांसा नहीं होती। इस जगत् में अनेक तत्त्व हैं। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध भी है। इस परिस्थिति में स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमांसा अनिवार्य हो जाती है। दूसरी बात है—प्रत्येक तत्त्व परिवर्तनशील है। परिवर्तन तत्त्व की आन्तरिक प्रक्रिया है। काल के हर क्षण के साथ वह घटित होता है। सूर्य और चन्द्रकृत काल सार्वदेशिक नहीं है। जो परिवर्तन का निमित्त बनता है, वह काल सार्वदेशिक है, वह प्रत्येक तत्त्व का आन्तरिक पर्याय है। वह निरन्तर गतिशील है। उसकी गतिशीलता तत्त्व को भी गतिशील रखती है। वह कभी और कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती। परिवर्तन की अनिवार्य श्रृंखला से प्रतिबद्ध तत्त्व के लिए स्वतंत्र और परतंत्र का प्रश्न स्वाभाविक है। जो कार्य-कारण की श्रृंखला से बंधा हुआ है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जिसके साथ परिवर्तन की अनिवार्यता जुड़ी हुई है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मनुष्य कार्य-कारण की श्रृंखला में बंधा हुआ है, गतिशीलता का अपवाद भी नहीं है, फिर वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है? क्या फिर वह परतन्त्र है? कोई भी वस्तु केवल परतन्त्र नहीं हो सकती। यदि कोई स्वतन्त्र है तो कोई परतन्त्र हो सकता है और यदि वह परतन्त्र है तो कोई स्वतन्त्र हो सकता है। केवल स्वतन्त्र और केवल परतन्त्र कोई नहीं हो सकता। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व स्थापित नहीं किया जा सकता। मनुष्य परतंत्र है, इसका अर्थ है कि वह स्वतन्त्र भी है।

स्वतन्त्र और परतन्त्र की सापेक्ष व्याख्या हो सकती है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं है और कोई परतन्त्र नहीं है। महावीर ने दो नयों से विश्व की व्याख्या की—पहला निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। निश्चित नय के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। न कोई आधार है और न कोई आधेय। न कोई कारण है और न कोई कार्य। न कोई कर्ता है और न कोई कृति। जो कुछ है वह स्वरूपगत है। यह अस्तित्व की व्याख्या है। उसके विस्तार की व्याख्या

व्यवहार नय करता है। उसकी सीमा में आधार और आधेय, कार्य और कारण, कर्ता और कृति का सम्बन्ध है, वहां स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी व्याख्या सम्भव है।

स्वतन्त्रता का चिन्तन दो कोटि के दार्शनिकों ने किया है। धर्म के संदर्भ में स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावों (आत्मिक गुणों को नष्ट करने वाले आवेशों) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। राजनीति के संदर्भ में स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की बाहरी प्रभावों (व्यवस्थाकृत दोषपूर्ण नियंत्रणों) के मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। धर्म जागतिक नियमों की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध केवल मनुष्य से नहीं किन्तु जागतिक व्यवस्था से है। राजनीति वैधानिक नियमों की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध और संविधान से है। भारतीय धर्माचार्यों व दार्शनिकों ने अधिकांशतया धार्मिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता के विषय में अपना मत प्रकट नहीं किया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे शाश्वत नियमों की व्याख्या में राजनीति के सामयिक नियमों का मिश्रण करना नहीं चाहते थे। उन्होंने शाश्वत नियमों पर आधारित स्वतन्त्रता की व्याख्या से राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्रभावित किया किन्तु उसका स्वरूप निर्धारित नहीं किया। स्मृतिकारों और पौराणिक पंडितों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बहुत मूल्य दिया।

पश्चिमी दार्शनिकों ने राजनीति के संदर्भ में स्वतन्त्रता और शासन-व्यवस्था की समस्या पर पर्याप्त चिन्तन किया। अरस्तू, ऐक्वाइनेस, लॉक और मिल आदि राजनीतिक दार्शनिकों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आधारभूत तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया। दूसरी ओर प्लेटो, माक्यावेलि, हाब्ज, हेगल और बर्क आदि राजनीतिक दार्शनिकों ने शासन-व्यवस्था को प्राथमिकता दी।

राजनीतिक दार्शनिकों की दृष्टि में वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो कर्तव्य का पालन करता है—वही कार्य करता है जो उसे करना चाहिए। व्यक्ति के कर्तव्य का निधारण सामाजिक मान्यताओं और संविधान की स्वीकृतियों के आधार पर होता है। इस अर्थ में व्यक्ति सामाजिक और वैधानिक स्वीकृतियों का अतिक्रमण किए बिना इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग सामाजिक और आर्थिक प्रगति में होता है। महावीर के दर्शन में स्वतन्त्रता का अर्थ है कषाय-मुक्ति—क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्ति। आवेशमुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र

क्रिया कर सकता है। गाली के प्रति गाली, क्रोध के प्रति क्रोध, अहं के प्रति अहं और प्रवाह के प्रति प्रवाह—यह प्रतिक्रिया का जीवन है। प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता। चिड़िया जैसे अपने प्रतिबिम्ब पर चोंच मारती है, बच्चे ने अपनी परछाई को पकड़ने का प्रयत्न किया और सिंह अपने ही प्रतिबिम्ब के साथ लड़ता हुआ कुएं में गिर पड़ा—ये सब प्रतिक्रियाएं बाहरी दर्शन से घटित होती हैं। स्वतन्त्रता आंतरिक गुण है। जिसका अन्तःकरण आवेश से मुक्त हो जाता है, वह समस्या का समाधान अपने भीतर खोजता है, क्रिया का जीवन जीता है और वह सही अर्थ में स्वतन्त्र होता है। वह गाली के प्रति मौन, क्रोध के प्रति प्रेम, अहं के प्रति विनम्रता और प्रहार के प्रति शांति का आचरण कर सकता है। यह क्रिया सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार से प्रेरित नहीं होती किन्तु अपने ध्येय से प्रेरित होती है, इसलिए यह क्रिया है। स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक अर्थ है क्रिया, परतन्त्रता का अर्थ है प्रतिक्रिया। अहिंसा क्रिया है, हिंसा प्रतिक्रिया। इसलिए महावीर ने अहिंसा को धर्म और हिंसा को अधर्म बतलाया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता धर्म है और परतन्त्रता अधर्म।

आन्तरिक जगत् में मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिबन्ध-क्षेत्र में कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वहां आंतरिक और बाहरी प्रभाव उसकी स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। आत्मा अपने अस्तित्व में ही पूर्ण स्वतन्त्र हो सकती है। बाहरी सम्पर्कों में उसकी स्वतन्त्रता सापेक्ष हो सकती है। यह संसार अपने स्वरूप में स्वयं बदलता है। इसके बाहरी आकार को जीव बदलते हैं और मुख्यतया मनुष्य बदलता है। क्या मनुष्य इस संसार को बदलने में समर्थ है? क्या वह इसे अच्छा बनाने में समर्थ है? इन प्रश्नों का उत्तर दो विरोधी धाराओं में मिलता है। एक धारा परतन्त्रतावादी दार्शनिकों की है। उनके अनुसार मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र है। वह संसार को बदल सकता है, उसे अच्छा बना सकता है। कालवादी दार्शनिक मनुष्य के कार्य को काल से प्रतिबन्धित, स्वभाववादी दार्शनिक उसे स्वभाव से प्रतिबन्धित, नियतिवादी दार्शनिक उसे नियति से निर्धारित, भाग्यवादी दार्शनिक उसे भाग्य के अधीन और पुरुषार्थवादी दार्शनिक उसे पुरुषार्थ से निष्पन्न मानते हैं।

महावीर ने मनुष्य के कार्य की अनेकांत दृष्टि से समीक्षा की। उन्होंने कहा—द्रव्य वह होता है, जिसमें अर्थक्रिया होती है। यह स्वाभाविक क्रिया है। यह न किसी निमित्त से होती है और न किसी निमित्त से अवरुद्ध होती है। यह किसी निमित्त से

प्रतिबंधित नहीं होती इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र होती है। द्रव्य में बाह्य निमित्तों से अस्वाभाविक क्रिया भी होती है। वह अनेक योगों से निष्पन्न होने के कारण यौगिक होती है। यौगिक क्रिया में काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ—इन सबका योग होता है—किसी का कम किसी का अधिक। जिसमें काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है उसमें मनुष्य विचार में स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में परतन्त्र होता है। जिसमें पुरुषार्थ का योग अधिक होता है उसमें मनुष्य काल आदि योगों से परतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता सापेक्ष ही होती है; निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नहीं होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस संसार को सुदूर अतीत में ही अपने इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने में स्वतन्त्र होता ही नहीं तो वह संसार को कुछ भी नहीं बदल पाता। यह सच है कि उसने संसार को बदला है और यह भी सच है कि वह संसार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी में नहीं बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख-सृष्टि नहीं कर पाया है। इन दोनों वास्तविकताओं में मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और विफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब हैं।

मनुष्य की कार्यजा शक्ति यदि काल, स्वभाव आदि में से किसी एक ही तत्त्व द्वारा संचालित होती तो काल, स्वभाव आदि में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और वे एक-दूसरे को समाप्त करने में लग जाते, किन्तु जागतिक द्रव्यों और नियमों में विरोध और अविरोध का सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन है। इसलिए वे कार्य की निष्पत्ति में अपना-अपना अपेक्षित योग देते हैं। सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नहीं दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नहीं कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नहीं कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता और पुरुषार्थ का कार्य भाग्य नहीं कर सकता। फिर भी कर्तृत्व के क्षेत्र में पुरुषार्थ अग्रणी है। पुरुषार्थ से काल के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि में परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ से भाग्य के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु भाग्य में परिवर्तन किया जा सकता है। इन सत्यों को इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे पुरुषार्थ की क्षमता बढ़ती है। सभ्यता के आदिम युग में मनुष्य का ज्ञान अल्प-विकसित था। उसके उपकरण भी अविकसित थे, फलतः पुरुषार्थ की क्षमता भी कम थी। प्रस्तरयुग की तुलना में अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान बहुत विकसित है

उसके उपकरण शक्तिशाली हैं और पुरुषार्थ की क्षमता बहुत बढ़ी है। आदिम युग का मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर था। वर्षा होती तो खेती हो जाती। एक एकड़ भूमि में जितना अनाज उत्पन्न होता उतना हो जाता। अनाज को पकाने में जितना समय लगता, उतना लग जाता। आज का मनुष्य इन सब पर निर्भर नहीं है। उसने सिंचाई के स्रोतों का विकास कर वर्षा पर निर्भरता को कम कर दिया। उसने रासायनिक खाद का निर्माण कर अनाज की पैदावार में अत्यधिक वृद्धि कर दी और कृत्रिम उपायों द्वारा फसल के पकने की अवधि को भी कम करने का प्रयत्न किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि और स्वभाव के परिवर्तन के सैकड़ों उदाहरण सभ्यता के इतिहास में खोजे जा सकते हैं। काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त नहीं हैं, इसलिए वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त है, इसलिए वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है। उनको प्रभावित कर वर्तमान को अतीत से भिन्न रूप में प्रस्तुत कर देता है।

इमान्युएल कांट (Immanuel Kant) ने विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति में स्वतन्त्र है, इसीलिए कर्म करने और शुभ-अशुभ फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। यदि वह कर्म करने में स्वतन्त्र न हो तो वह कर्म करने और उसका फल भोगने के लिए उत्तरदायी नहीं होता। भारतीय कर्मवाद का यह प्रसिद्ध सूत्र है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है। इस सूत्र की मीमांसा से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य नया कर्म करने में पुराने कर्म से बंधा हुआ है। वह कर्म करने और उसका फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। यदि ऐसा है तो उसे किसी भी अच्छे या बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसका वर्तमान अतीत से नियंत्रित है। वर्तमान का अपना कोई कर्तृत्व नहीं है। वह अतीत की कठपुतली मात्र है। कर्मवाद के इस सामान्य सूत्र ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया। उसे भाग्यवाद के सांचे में ढाल दिया। उसके प्रभाव ने पुरुषार्थ की क्षमता क्षीण कर दी।

महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका पुरुषार्थवाद भाग्यवाद के विरोध में नहीं था। भाग्य पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। जो जिसके द्वारा निष्पन्न होता है, वह उसके द्वारा परिवर्तित भी हो सकता है। महावीर ने कर्म के उदीरण और संक्रमण के सिद्धांत का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरण का सिद्धांत है कि कर्म की अवधि को घटाया-बढ़ाया जा

सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मंद और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के संक्रमण का सिद्धांत है कि असत् प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप में बदला जा सकता है और सत् प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य में बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है—कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरण और संक्रमण का सिद्धांत सीमित नहीं करता तो मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता में कोई अंतर नहीं होता। किन्तु उदीरण और संक्रमण के सिद्धांत ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतन्त्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को प्रज्वलित कर दिया।

नियति को हम सीमित अर्थ में स्वीकार कर पुरुषार्थ पर प्रतिबन्ध का अनुभव करते हैं। पुरुषार्थ पर नियति का प्रतिबन्ध है, किन्तु इतना नहीं है, जिससे कि पुरुषार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाए। यदि हम नियति को जागतिक नियम (Universal Law) के रूप में स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है। इसलिए नियति उसका सीमा-बोध करा सकती है किन्तु उसके स्वरूप को विलुप्त नहीं कर सकती। विलियम जेम्स ने लिखा है—‘संसार में सब कुछ पहले से ही निर्धारित हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि पूर्व-निर्धारित अन्यथा नहीं हो सकता।’ यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की स्वतन्त्रता न हो तो पश्चाताप करने का क्या औचित्य है? किन्तु जहां सब कुछ पहले से निर्धारित हो तो वहां पश्चाताप करने से रोका भी नहीं जा सकता। जब तक हम मनुष्य की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक हम उसे किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। अनेकांत दृष्टि हमें इस वास्तविकता पर पहुंचा देती है कि इस विश्व में नियत वहीं है जो शाश्वत है। जो अशाश्वत है, वह नियत नहीं हो सकता। अस्तित्व शाश्वत है। कोई भी पुरुषार्थ उसे अनस्तित्व में नहीं बदल सकता। जो यौगिक है, वह अशाश्वत है, वह पूर्व-निर्धारित नहीं हो सकता। उसे बदलने में ही स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ की अर्थवत्ता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ की सीमा का कार्य है। ऐसा करने में नियति उसका साथ देती है। अस्तित्व को बनाया-बिगाड़ा नहीं जा सकता। वह पुरुषार्थ की सीमा से परे है। नियति और पुरुषार्थ की इस सीमा का बोध होने पर उन दोनों में विरोध का अनुभव नहीं होता, सापेक्षतापूर्ण सामंजस्य का ही अनुभव होता है।

क्रिया चेतन और अचेतन—दोनों का मौलिक गुण है। अचेतन की क्रिया

स्वाभाविक या पर-प्रेरित होती है। चेतन में स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ स्वतन्त्र क्रिया भी होती है। यंत्र की गति निर्धारित मार्ग पर होती है। उसमें इच्छा और संकल्प की शक्ति नहीं होती, इसलिए उसकी गति स्वतन्त्र नहीं होती।

मनुष्य चेतन है। उसमें इच्छा, संकल्प और विचार की शक्ति है, इसलिए वह स्वतंत्र क्रिया करता है। डंस स्काट्स ने भी इसी आधार पर मनुष्य की स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—‘हमारी स्वतंत्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी अधर्म के पथ पर चल सकता है, यही उसकी स्वतंत्रता है।’

प्रगति का पहला चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न। ये दोनों मनुष्य में सर्वाधिक विकसित होते हैं। इसलिए हमारे संसार की प्रगति का मुख्य सूत्रकार मनुष्य ही है। उसने आंतरिक जगत् में सुख-दुःख, सिद्धांत, कल्पना, तर्क और भावना की सृष्टि की है। उसने बाह्य जगत् में आवश्यकता, सुख-सुविधा और विलासिता के उपकरणों की सृष्टि की है। युद्ध और शांति का सृजन मनुष्य ने ही किया है।

डार्विन ने यह स्थापना की—संघर्ष प्रकृति का एक नियम है। वह शाश्वत और सार्वत्रिक है। वह जीवन-संग्राम का मूल हेतु है। इस स्थापना का स्वर भारतीय चिन्तन में भी ‘जीवो जीवस्य जीवनम्’ के रूप में मिलता है। डार्विन ने जगत् को संघर्ष के दृष्टिकोण से देखा। इसमें भी सत्यांश है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। महावीर ने जगत् को भिन्न दृष्टिकोण से देखा था। उन्होंने इस सिद्धांत की स्थापना की कि जीव-जगत् पारस्परिक सहयोग के आधार पर टिका हुआ है। मनुष्य में यदि संघर्ष का बीज है तो उसमें सहयोग का बीज क्यों नहीं हो सकता? यदि वह संघ-करने में स्वतन्त्र है तो वह सहयोग करने में स्वतन्त्र क्यों नहीं हो सकता? महावीर के सिद्धांत का सार है कि मनुष्य संघर्ष और सहयोग—दोनों के लिए स्वतन्त्र है किन्तु जीवन में शांति की प्रतिष्ठा के लिए वह अपनी स्वतन्त्रता को संघर्ष की दिशा से हटाकर सहयोग की दिशा में मोड़ दे। हमारे जीवन में संघर्ष के क्षण बहुत कम होते हैं, सहयोग के क्षण बहुत अधिक।

महावीर ने मनुष्य की स्वतंत्रता को कुंठित नहीं किया। उन्होंने उसके दिशा-परिवर्तन का सूत्र दिया। वह सूत्र है—‘मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग प्रिय की दिशा में करे, हर बुराई को अच्छाई में बदल डाले।’

कर्मवाद

कर्मवाद की पृष्ठभूमि

कुछ प्राणी संवेदन करते हैं, जानते नहीं। कुछ प्राणी जानते हैं, संवेदन नहीं करते। कुछ प्राणी जानते भी हैं और संवेदन भी करते हैं। अचेतन न जानता है और न संवेदन करता है। ये चार विकल्प हैं।

पहले विकल्प में संवेदन है, ज्ञान नहीं। यह चेतना का निम्न स्तर है। यह वृत्ति का स्तर है। इसके आधार पर जीवन जीया जा सकता है, पर चैतन्य का विकास नहीं किया जा सकता।

दूसरा विकल्प शुद्ध ज्ञान का है। इसमें संवेदन नहीं है, कोरा ज्ञान है। संवेदन का माध्यम शरीर है। मुक्त आत्मा में शरीर नहीं होता। जिसके शरीर नहीं होता, वह प्रिय और अप्रिय—दोनों का स्पर्श नहीं करते।

तीसरे विकल्प में ज्ञान और संवेदन—दोनों हैं। यह मानसिक और बौद्धिक विकास का स्तर है। इस स्तर में चैतन्य के विकास की पर्याप्त सम्भावना होती है। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान विकसित होता चला जाता है, वैसे-वैसे हम संवेदन के धरातल से उठकर ज्ञान की भूमिका को विकसित करते चले जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी ज्ञान की भूमिका विकसित होती है, वैसे-वैसे हम आत्मा के अस्तित्व में प्रवेश पाते हैं। हम अपने अस्तित्व में तब तक प्रवेश नहीं पाते, जब तक संवेदन का धरातल नीचे नहीं रह जाता। आचार्य अमितगति के शब्दों में अज्ञानी संवेदन के धरातल पर जीता है और ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर। मनुष्य दो धरातल पर जीते हैं। ज्ञानी मनुष्य जानते हैं किन्तु संवेदन नहीं करते। जो घटना घटित होती है, उसे जानते-देखते हैं किन्तु उसका संवेदन नहीं करते, भार नहीं ढोते। अज्ञानी मनुष्य जानते नहीं, संवेदन करते हैं। वे स्थिति का भार ढोते हैं। वेदांत का साधना-सूत्र है कि साधक द्रष्टा होकर जीये। वह घटना के प्रति साक्षी रहे, उसे देखे, किन्तु उससे प्रभावित न हो, उसमें लिप्त न हो।

ज्ञान होना और संवेदन न होना—यह द्रष्टा का जीवन है। मेरे हाथ में कपड़ा

है। मैं इस कपड़े को जानता हूँ, देखता हूँ। मैं इस कपड़े को कपड़ा मानता हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं मानता। यह ज्ञान का जीवन है, यह आत्म-दर्शन है। प्रश्न हो सकता है—‘यह आत्म-दर्शन कैसे? यह तो वस्त्र-दर्शन है। वस्त्र-दर्शन को हम आत्म-दर्शन कैसे मान सकते हैं?’ इसका उत्तर बहुत साफ है। मैं वस्त्र को जानता हूँ। मैं केवल जानता हूँ, उसके साथ कोई संवेदनात्मक संबन्ध स्थापित नहीं करता। इसका अर्थ है मैं ज्ञान को जानता हूँ और ज्ञान को जानने का अर्थ है मैं अपने आपको जानता हूँ। ज्ञान और ज्ञानी सर्वथा अभिन्न नहीं है और सर्वथा भिन्न भी नहीं है। बहुत सारे लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं। आत्म-दर्शन का उपाय बहुत जटिल माना जाता है। मैं आपको बहुत सरल उपाय बता रहा हूँ। आप इस वस्त्र को देखें। यह आपका आत्म-दर्शन है। आप वस्त्र को देख रहे हैं, तब केवल वस्त्र को नहीं देख रहे हैं। जिससे वस्त्र को देख रहे हैं, उसे भी देख रहे हैं, अपने ज्ञान को भी देख रहे हैं। जहाँ केवल ज्ञान का प्रयोग होता है, वहाँ अपने अस्तित्व का अनुभव होता है। अपने अस्तित्व का अर्थ है—केवल ज्ञान का अनुभव। ज्ञान में किसी दूसरी भावना का मिश्रण हुआ कि वह संवेदन बन गया। ज्ञान का धरातल छूट गया। केवल ज्ञान का अनुभव करना अपने अस्तित्व का अनुभव करना है। अपना अस्तित्व उससे पृथक् नहीं है। मैं ज्ञान का अनुभव कर रहा हूँ, इसका अर्थ है कि जहाँ से ज्ञान की रश्मियाँ आ रही हैं उस आत्म-सत्ता का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। केवल ज्ञान का प्रयोग करने का अर्थ है—अपने आपको जानना और अपने आपको जानने का अर्थ है—केवल ज्ञान का प्रयोग करना। इस अर्थ में केवल ज्ञान का प्रयोग और आत्म-दर्शन एक ही बात है।

ज्ञान की निर्मलधारा में जब राग और द्वेष का कीचड़ मिलता है, अहं और मोह की कलुषता मिलती है, तब वह केवल ज्ञान या शुद्ध ज्ञान की धारा संवेदन की धारा बन जाती है। इस धारा में न शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और न आत्म-दर्शन होता है।

ज्ञान और संवेदन—यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

अविभक्त बंगाल में चौबीस परगना जिला था। उस जिले में एक गांव है कोल्हू। वहाँ एक व्यक्ति रहता था। उसका नाम था भूपेश सेन। वह बंगाली गृहस्थ था। बहुत बड़ा भक्त था। इतना बड़ा भक्त कि जब वह भक्ति में बैठता तब तन्मय हो जाता। बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध टूट जाता। एक दिन वह भक्ति में बैठा और तन्मय हो गया। बाहर का भान समाप्त हो गया। अन्तर् में पूरा जागृत किन्तु

बाहर से सुप्त । एक व्यक्ति आया और चिल्लाया—‘भूपेश ! क्या कर रहे हो ? उठो और संभलो ।’ वह बहुत जोर से चिल्लाया । किन्तु भूपेश को कोई पता नहीं चला । उसने भूपेश का हाथ पकड़ झकझोरा, तब भूपेश ने आंखें खोली और कहा—‘कहिए, क्या बात है ?’ आगन्तुक बोला—‘मुझे पूछते हो क्या बात है ? यहां आंख मूंदे बैठे हो । तुम्हें पता नहीं, तुम्हारे इकलौते बेटे को सांप काट गया और वह तत्काल ही मर गया ।’ भूपेश ने कहा—‘जो होना था सो हुआ ।’ आगन्तुक बोला—‘अरे ! तुम कैसे पिता हो ? मैंने तो दुःख का संवाद सुनाया और तुम वैसे ही बैठे हो ? लगता है कि पुत्र से तुम्हें प्यार नहीं है । तुम्हें शोक क्यों नहीं हुआ ? तुम्हें चिंता क्यों नहीं हुई ? तुम्हें दुःख क्यों नहीं हुआ ? तुम्हारी आंखों से दो आंसू क्यों नहीं छलक पड़े ?’ भूपेश ने कहा—‘जिस दिन बेटा आया था तो मुझे पूछकर नहीं आया था और आज वह लौट गया तो मुझे पूछ कर नहीं लौटा । उस दिन मैंने कुछ नहीं किया था, आज भी मुझे कुछ नहीं करना है । यह जन्म और मरण की अनिवार्य श्रृंखला है, जिसमें मेरा हाथ नहीं है । मनुष्य आता है, चला जाता है । तुम्हें इतनी क्या चिन्ता है ?’ आगन्तुक चुप हो गया । उसके पास बोलने के लिए कुछ नहीं बचा । कुछ क्षण रुककर वह बोला ‘अब उसकी चिंता जलानी है, साथ चलो ।’ भूपेश उसके साथ गया । पुत्र की अर्धी श्मशान में पहुंची । चिता में पुत्र को सुला, आग लगाकर कहा—‘बेटे, तुम जिस घर से आए थे, उसी घर में जा रहे हो । आज से हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है ।’

यह घटना का केवल ज्ञान है । इसके साथ संवेदन का कोई तार जुड़ा हुआ नहीं है । जो घटित हुआ, उसे उसी रूप में स्वीकार किया गया है । मनुष्य जब इस स्थिति में पहुंच जाता है, तब ज्ञानी की भूमिका प्रशस्त हो जाती है । भगवान् महावीर की वाणी में इसी का नाम संवर है । जहां केवल ज्ञान रहता है, केवल आत्मा की अनुभूति रहती है, वहां विजातीय तत्त्व का आकर्षण बन्द हो जाता है ।

कर्म का वर्तुल

आत्मा की दो स्थितियां हैं—एक अस्वीकार की और दूसरी स्वीकार की । केवल ज्ञान का अनुभव होना अस्वीकार की स्थिति है । ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । स्वभाव की अवस्था में विजातीय तत्त्व का कोई प्रवेश, संक्रमण या प्रभाव नहीं होता । संवेदन स्वीकार की स्थिति है । संवेदन के द्वारा हमारा बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है । हम बाहर से कुछ लेते हैं और उसे अपने साथ जोड़ते हैं । जोड़ने की भावधारा का नाम ‘आश्रव’ और विजातीय तत्त्व के जुड़ने का नाम ‘बन्ध’ है । आत्मा

के साथ जुड़ा हुआ विजातीय तत्त्व, परिपक्व होकर अपना प्रभाव डालता है, तब उसका नाम 'कर्म' हो जाता है। वह अपना प्रभाव दिखाकर विसर्जित हो जाता है। कोई भी विजातीय तत्त्व आत्मा के साथ निरन्तर चिपका नहीं रह सकता। या तो वह अवधि का परिष्कार होने पर अपना प्रभाव दिखलाकर स्वयं चला जाता है या प्रयत्न के द्वारा उसे विलग कर दिया जाता है। यह विलग करने का प्रयत्न 'निर्जरा' है। तपस्या से कर्म निजीर्ण होते हैं, इसलिए उसका (तपस्या का) नाम निर्जरा है। निर्जरा का चरमबिन्दु मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—केवल आत्मा। आत्मा और पुद्गल का जो योग है, वह बन्धन है, संसार है। केवल आत्मा के अस्तित्व का होना, पुद्गल का योग न होना ही मोक्ष है। इसकी अनुभूति धर्म के हर क्षण में की जा सकती है।

आश्रव और संवर, बन्ध और निर्जरा—इन चार तत्त्वों को समझने पर ही कर्म की वास्तविकता को समझा जा सकता है। केवल चैतन्य का अनुभव होना संवर है। चैतन्य के साथ राग-द्वेष का मिश्रण होना आश्रव है। इसके द्वारा कर्म परमाणु आकर्षित होते हैं। वे चैतन्य को आवृत करते हैं, ज्ञान और दर्शन की क्षमता पर आवरण डालते हैं। वे आत्मा के सहज आनंद को विकृत कर, उसके दृष्टिकोण और चरित्र में विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्थूलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्गलिक उपलब्धि के हेतु हैं। इस प्रकार आश्रव बन्ध का निर्माण करता है और बन्ध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म के द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। आत्मा केवलज्ञान के अनुभव की अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह वर्तुल चलता ही रहता है।

जीव में भी अनंत शक्ति है और पुद्गल में भी अनन्त शक्ति है। जीव में दो प्रकार की शक्ति होती है—

१. लब्धिवीर्य—योग्यतारूप शक्ति।
२. करणवीर्य—क्रियात्मक शक्ति।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भते ! जीव कांक्षा-मोहनीय कर्म का बन्ध करता है ?

भगवान्—'करता है।'

'भते कैसे ?'

'प्रमाद से।'

'भते ! प्रमाद किससे होता है ?'

'योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से।'

‘भते ! योग किससे होता है ?’

‘वीर्य (प्राण) से ।’

‘भते ! वीर्य किससे होता है ?’

‘शरीर से ।’

‘भते ! शरीर किससे होता है ?’

‘कर्म-शरीर से ।’

‘भते ! कर्म-शरीर किससे होता है ?’

‘जीव से ।’

आप उल्टे चलिए । जीव से शरीर, शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बन्ध यह एक वर्तुल है ।

कर्म की कर्ता आत्मा है या कर्म ? इस प्रश्न पर दो अभिमत हैं । सूत्रकार की भाषा में कर्म की कर्ता आत्मा है । आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कर्म का कर्ता कर्म है । ये दोनों सापेक्ष दृष्टिकोण हैं । इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है । मूल आत्मा (चिन्मय अस्तित्व) और आत्मपर्याय (मूल आत्मा के निमित्त से निष्पन्न अवस्थाएं)—ये दो वस्तुएं हैं । इन्हें हम अभेद और भेद—दोनों दृष्टियों से देखते हैं । जब हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं तो कहा जाता है—आत्मा कर्म की कर्ता है । और जब हम भेद की दृष्टि से देखते हैं तब कहते हैं—कर्म कर्म का कर्ता है । कर्म का कर्ता कषाय-आत्मा है । वह मूल आत्मा का एक पर्याय है । यदि मूल आत्मा कर्म की कर्ता हो तो वह कभी भी कर्म का अकर्ता नहीं हो सकती । उसका स्वभाव चैतन्य है, इसलिए वह चैतन्य की ही कर्ता हो सकती है । कर्म पौद्गलिक है, अचेतन है । वह उसकी कर्ता नहीं हो सकती । मूल आत्मा के आयतन में कषाय-आत्मा (राग और द्वेष) का वलय है । उससे कर्म-पुद्गलों का आकर्षण होता है । वे कषाय को पुष्ट करते हैं । इस प्रकार कषाय से कर्म और कर्म से कषाय चलता रहता है । मिथ्या दृष्टिकोण, आकांक्षा और आत्म-विस्मृति—ये तीनों आत्म-पर्याय भी कर्म के कर्ता हैं । किन्तु वास्तव में ये सब कर्म के उपजीवी हैं । मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भी कर्म की कर्ता है । किन्तु उसमें कर्म-पुद्गलों को बांधकर रखने की क्षमता नहीं है । कषाय के क्षीण हो जाने पर केवल प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण में कर्म-शरीर से जुड़ता है, दूसरे क्षण में मुक्त होकर तीसरे क्षण में निर्जीव हो जाता है । ठीक इसी तरह जैसे सूखी रेत भीत पर डाली गई, भीत का स्पर्श किया और नीचे गिर गई ।

कर्म की तीन अवस्थाएं होती हैं—स्पृष्ट, बद्ध और बद्ध-स्पृष्ट ! कषाय का वलय टूट जाता है तब कोरी प्रवृत्ति से कर्म आत्मा से स्पृष्ट होते हैं । कर्म दीर्घकालीन या प्रगाढ़ बंध कषाय के होने पर ही होता है । हमारी बहुत सारी अनुभूतियां कषाय-चेतना की अनुभूतियां हैं । आवेश, अहंकार, प्रवंचना, लालसा—ये सब कषाय की ऊर्मियों हैं । भय, शोक, घृणा, वासना—ये सब कषाय की उपजीवी ऊर्मियां हैं । इन ऊर्मियों की अनुभूति के क्षण क्षुब्ध और उत्तेजनापूर्ण होते हैं । जिस क्षण हम केवल चेतना की अनुभूति करते हैं, वह शांत-कषाय का क्षण होता है । जिन क्षणों में हम संवेदन करते हैं, उनमें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः चेतना कषाय-मिश्रित होती है ।

सन्त रबिया के घर एक फकीर आया । उसने मेज के पास पड़ी पुस्तक को देखा । उसके पन्ने उलटने शुरू किए । एक पन्ने पर लिखा था—‘शैतान से नफरत करो’ रबिया ने उसे काट दिया । फकीर बोला—‘यह क्या ? इस पवित्र पुस्तक का वाक्य किसने काटा ?’ संत रबिया ने कहा—‘यह मैंने काटा है ।’ फकीर ने पूछा—‘क्यों ?’ रबिया ने कहा—‘अच्छा नहीं लगा ।’

‘यह कैसे हो सकता है कि पवित्र पुस्तक की बात अच्छी न लगे ? क्या यह सही नहीं है ?’ फकीर ने पूछा । संत रबिया ने कहा—‘एक दिन मुझे भी सही लगता था, किन्तु आज लगता है कि सही नहीं है ।’

वह कैसे ? फकीर ने पूछा ।

संत रबिया ने कहा—‘जब तक मेरा प्रेम जागृत नहीं था, मेरी प्रेम की आंख खुली नहीं थी, मुझे भी लगता था कि शैतान से नफरत करो, प्यार नहीं—यह वाक्य बहुत सही है । किन्तु अब मैं क्या करूं ? मेरी प्रेम की आंख खुल गई है । अब घृणा करने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं बचा है । मैं घृणा कर ही नहीं सकता । प्रेम की आंख यह भेद करना नहीं जानती कि इसके साथ प्रेम करो और इसके साथ घृणा ।’

हम जब कषाय-चेतना में होते हैं तब किसी को प्रिय मानते हैं और किसी को अप्रिय । किसी को अनुकूल मानते हैं और किसी को प्रतिकूल । हमारी कषाय-चेतना शान्त होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं । फिर कोरा ज्ञान ही हमारे सामने रहता है । उसमें न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय । न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट । न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल । इस स्थिति में कर्म का बन्ध नहीं होता ।

कषाय

चेतना का पहला प्रहार तब होता है, जब भेद ज्ञान का विवेक जागृत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—यह विवेक जब अपने वलय का निर्माण करता है तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ।

तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन ॥

—इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं, जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव में आ गई।

ऐसा होते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन का भेद समझ लिया उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय से कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुटाराघात करती है।

कर्म-बन्धन को तोड़ने का मूल-हेतु भेद का विज्ञान है, तो कर्म-बंध का मूल-हेतु भेद का अविज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा को उलटकर कहा जा सकता है—

भेदाविज्ञानतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन ।

तस्यैवाभावतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ॥

इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव में आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बन्धन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना और चेतना वलयों की एकता की अनुभूति होती है, उसका बंधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नहीं हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ-साथ पुद्गल एकरस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण

कर्म-शरीर की विद्यमानता में 'संवर'—कर्म-पुद्गलों के संबंध को रोकने वाला और उसके (कर्म-शरीर के) अभाव में आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है। यहां जातीयसूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कषाय-चेतना की परिणतियां पुद्गल-मिश्रित हैं। पुद्गल पुद्गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें जहां कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव में कर्म का प्रगाढ़ बन्ध होता है और साधना के द्वारा उनकी ग्रन्थि का भेदन होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्गलों की जिन धाराओं को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और बाह्य परिणतियों में सामंजस्य हुए बिना दोनों में सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की जो मीमांसा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नए उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है। जैसी परिणति होती है, वैसी ही पुद्गलों को हम ग्रहण करते हैं। उन पुद्गलों का अपने आप में परिपाक होता है। परिपाक के बाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आन्तरिक परिणति हो जाती है। यह एक श्रृंखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निन्दा की; ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल में वह कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। वे कर्म-पुद्गल आत्मा की सारी शक्तियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति में गृहीत पुद्गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप में होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मों की मीमांसा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति यदि ठगने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की

होती है तो उस समय ग्रहण किये जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किये जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके सुख में बाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप में परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्गल-धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-संघर्ष में आने वाली बाधाओं को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी की क्षमताओं का अवरोध पैदा होता है—ये भिन्न-भिन्न समस्याएं हैं। साधना के द्वारा इसका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। और यदि मन पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह बहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ में आ जाए तो जीवन की समस्याओं को सुलझाने में हम बहुत सफल हो सकते हैं।

आत्मा और परमात्मा

‘संपिक्खए अप्पगमप्पएणं’ — आत्मा से आत्मा को देखो, परमात्मा बन जाओगे ।

नमि राजर्षि प्रव्रजित हो रहे थे । एक बूढ़ा ब्राह्मण आकर बोला—‘राजर्षि ! तुम प्रव्रजित हो रहे हो, राज्य को छोड़ संन्यासी बन रहे हो ? क्या देख नहीं रहे हो कि हमारी मिथिला, तुम्हारा अन्तःपुर, तुम्हारा राजभवन ये सारे के सारे धाय-धाय जल रहे हैं । इनको आग लगी है । जरा आंख उठाकर देखो तो सही कि यह क्या हो रहा है ?’

राजर्षि ने शान्तभाव से कहा—‘ब्राह्मण ! मैं देख रहा हूँ । मेरी मिथिला नहीं जल रही है । मेरी अन्तःपुर और मेरा राजभवन भी नहीं जल रहा है । मैं जहां हूँ वहां कुछ भी नहीं जल रहा है । जहां कोई आग नहीं है, कोई चिनगारी नहीं है और कोई चिनगारी डालने वाला भी नहीं है, जहां कोई जलने वाला भी नहीं है और जलाने वाला भी नहीं है, मैं वहां हूँ । मैं सुख से जी रहा हूँ, सुख से रह रहा हूँ । मेरी राजधानी जल नहीं सकती । मेरा प्रासाद जल नहीं सकता । मेरी सम्पदा को कोई नहीं जबा सकता । मिथिला जल रही है, जले उसमें मेरा क्या ?’

राजर्षि के उत्तर ने ब्राह्मण को विस्मय में डाल दिया । मिथिला जल रही थी या नहीं जल रही थी, यह कोई महत्त्व की बात नहीं थी और वह सचमुच नहीं जल रही थी । यह एक कसौटी थी । कसौटी करने वाला था ब्राह्मण और वह कसौटी कर रहा था उस राजर्षि की जो घर छोड़कर जा रहा था । सब कुछ छोड़ रहा था । ब्राह्मण जानना चाहता था कि राजर्षि वास्तव में सब कुछ छोड़ कर जा रहा है या भावावेश में छोड़ने का बहाना कर रहा है । बहुत बार ऐसा होता है कि हम छोड़ने का बहाना करते हैं और छूटता कुछ भी नहीं । स्मृति का भार और अधिक सिर पर लद जाता है । छोड़ने की स्मृति सताने लगती है । तो क्या नमि राजर्षि सचमुच छोड़कर चला जा रहा है या स्मृति का भार ढोने जा रहा है ? वासना नहीं छूटती, अहं नहीं छूटता तो छोड़ने का बहाना मात्र होता है, वास्तव में कुछ भी नहीं छूटता । किन्तु राजर्षि सचमुच छोड़कर चले जा रहे थे । वे अपनी चेतना में लीन हो गये थे ।

उन्होंने संकलनात्मक मन का विर्सजन कर दिया था। वे चेतना से बाहर किसी पदार्थ पर ध्यान दे सकें, वैसा मन उसके पास नहीं रहता था। हम सोच सकते हैं कि मिथिला जल रही हो और राजर्षि उसे आंख उठाकर देखने के लिए भी तैयार न हों, यह अव्यावहारिक बात है। व्यवहार उन लोगों के लिए है जो व्यवहार के धरातल पर जीते हैं। चेतना के धरातल पर जीने वाले लोग उसकी गहराई को देखते हैं और उसी के आधार पर अपना निर्णय लेते हैं। व्यवहार के निर्णय उन्हें मान्य नहीं होते। व्यवहार पर जीने वाले लोगों को चेतना की गहराई पर होने वाले निर्णय मान्य नहीं होते। दोनों की मान्यताएं भिन्न होती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि चेतना की गहराई में जाने पर जलने की बात समाप्त हो जाती है। समस्या है चेतना की गहराई में जाने की। जो चेतना की गहराई में चला जाता है वह सचमुच परमात्मा बन जाता है।

चेतना के दो छोर हैं—एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। एक बीज और दूसरा विस्तार। आपने देखा होगा कि बरगद का बीज कितना छोटा होता है और आपने बरगद के विस्तार को भी देखा होगा, वह कितना बड़ा होता है। नन्हा-सा बीज उतना फैल जाता है, उसकी कल्पना होना भी कठिन है। आत्मा बरगद का बीज है और परमात्मा उसका विकास। आत्मा का लक्ष्य है परमात्मा होना। यह लक्ष्य आरोपित नहीं है, किन्तु सहज है। उसकी सिद्धि में बहुत विघ्न है। इसलिए यह दूरी एक साथ ही नहीं पट जाती। उसके लिए आत्मा को एक लम्बी यात्रा करनी होती है। इस यात्रा के पहले चरण में अपने अस्तित्व का बोध होता है। आत्मा क्या है? वह कहां से आई है? वह कैसे उत्पन्न हुई है? ये उलझते हुए प्रश्न हैं। ये सुदूर अतीत में ले जाते हैं—इतने सुदूर अतीत में कि उसका आदि-बिन्दु खोजना कठिन है।

आत्माओं का एक अक्षय-कोष है जिसमें से वे निकलती रहती हैं। वह है वनस्पति। इसमें अनन्त-अनन्त आत्माएं होती हैं। वनस्पति की एक श्रेणी है। उसका नाम है 'व्यवहार राशि'। उसमें ऐसी अनन्त-अनन्त आत्माएं हैं जिनका कभी विकास नहीं हुआ। वे अनादिकाल से उसी योनि में रह रही हैं। काल-मर्यादा, नियति और कर्म का समुचित योग होने पर कोई आत्मा उस राशि से निकलकर 'व्यवहार राशि' में आती है। यहां उसका विकास प्रारम्भ हो जाता है। वह एकेन्द्रिय से विकसित होते-होते पंचेन्द्रिय और मनुष्य की अवस्था में पहुंच जाती है। 'अव्यवहार राशि' की आत्माएं अविकसित और 'व्यवहार राशि' की आत्माएं विकसित होती हैं। 'व्यवहार राशि' एक नन्ही-सी-बूंद है और 'अव्यवहार राशि' एक महान् समुद्र है,

अथाह समुद्र जिसका कोई आर-पार नहीं है। वहां कोई भाषा नहीं, चिन्तन नहीं, स्मृति नहीं, कल्पना नहीं, अभिव्यक्ति का कोई साधन नहीं। 'व्यवहार राशि' में भाषा है, चिन्तन है, स्मृति है, कल्पना है, अभिव्यक्ति के साधन हैं।

आत्मा की शक्ति समान है। 'अव्यवहार राशि' की आत्मा में जो शक्ति है वही 'व्यवहार राशि' की आत्माओं में है। दोनों में शक्ति का कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है केवल अभिव्यक्ति का। 'अव्यवहार राशि' की आत्माओं में चेतना की केवल एक रश्मि प्रकट होती है। वह है स्पर्श-बोध। हमारे जागरित व्यवहार का प्रारम्भ वाणी से होता है। वाणी नहीं तो व्यवहार नहीं, वाणी है तो व्यवहार है। हमने जैसे ही 'अव्यवहार राशि' को पार कर 'व्यवहार राशि' में प्रवेश किया वैसे ही हमें सर्वप्रथम भाषा की उपलब्धि हुई, रसनेन्द्रिय का विकास हुआ। उस रसनेन्द्रिय से स्वादानुभूति और भाषा दोनों का कार्य सम्भाला। चेतना की दूसरी रश्मि, दूसरी किरण फूट पड़ी। हमने बोलना प्रारम्भ किया और स्वाद का अनुभव किया। हम व्यवहार के जगत् में आ गए। 'अव्यवहार राशि' में हम चेतना को प्रकट करने की स्थिति में आ गए। 'अव्यवहार राशि' में हम चेतना को प्रकट नहीं कर रहे थे। जैसे ही हम 'व्यवहार राशि' के जगत् में आए वैसे ही हमने यह जानना शुरू कर दिया कि हमारा भी अस्तित्व है। हम भी हैं। अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए वाणी मुखर हो गई। हम दो इन्द्रिय वाले हो गए।

अब हमारे लिए विकास का स्रोत खुल गया। हमने सामाजिक जगत् को निकट से जानना प्रारम्भ किया। हमें चेतना कि एक किरण और मिली। उससे हमने गन्ध का अनुभव किया। हम तीन इन्द्रिय वाले हो गए। हमने सूँघकर बाह्य जगत् से सम्बन्ध स्थापित करना सीख लिया। हमने अनुभव किया कि फूलों में गन्ध होती है। केवल फूलों में ही नहीं, मनुष्य में भी गंध होती है। इस जगत् की कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें गंध न हो।

हम और आगे चले। चेतना की चौथी किरण प्रस्फुटित हुई, उसके द्वारा हमने अपने जगत् को देखा, रंग को देखा, रूप को देखा। हम चकित रह गए। कितनी वस्तुएं! कितने रूप! कितने आकार और कितने प्रकार! हम चार इन्द्रिय वाले हो गए।

हमारा विकास-क्रम और आगे बढ़ा। हमें श्रोत की उपलब्धि हुई। हमने सुनना प्रारम्भ किया। व्यवहार जगत् के पहले चरण में सामने बोलना अर्थात् सुनाना शुरू किया और चौथे चरण में सुनना शुरू कर दिया।

और आदान—दोनों प्रारम्भ कर दिए। अब हमारा व्यवहार-जगत् के साथ पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो गया। हम पांच इन्द्रिय वाले हो गए। हमारी चेतना की खिड़कियां खुल गईं, पांचों रश्मियां प्रस्फुटित हो गईं।

चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मियां हैं। उनमें से पांच रश्मियां हमें उपलब्ध हो गईं। हमारे केन्द्र में प्रकाश है, उस पर एक आवरण पड़ा है जो प्रकाश को बाहर की ओर जाने से रोक रहा है। जैसे-जैसे उस लोहावरण को हटाकर हम आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे हमारी चेतना की रश्मियां प्रकाश देने लग जाती हैं। एक बार विकास का क्रम प्रारम्भ होता है, वह रुकता नहीं। वह आगे से आगे बढ़ता चला जाता है। हमारे विकास का क्रम आगे बढ़ा, हमने एक दरवाजा खोल लिया। पहले खिड़कियां खुली थीं और अब एक दरवाजा खुल गया। हम मनवाले प्राणी हो गए। मन बहुत बड़ा दरवाजा है। इन्द्रिय छोटी खिड़कियां हैं। मैं देखता हूँ। मेरे सामने एक आदमी बैठा है। आंख ने देखा। उसका काम पूरा हो गया। यह पहले क्या था? आंख नहीं जानती। बाद में क्या होगा—यह भी नहीं जानती। मन का काम पहले-पीछे को जानना भी है। वह भूत और भविष्य को भी जानता है। इन्द्रियां केवल वर्तमान को जानती हैं। मन भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों को जानता है। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त जानकारी का संकलन करना मन का काम है। उसके बिना पृथक्-पृथक् जाने हुए ज्ञान का संकलन नहीं हो सकता। १, १, १—प्रत्येक अंक के अर्द्ध-विराम लगाते चले जाइये, प्रत्येक अंक अलग रहेगा। अर्द्ध-विराम के न होने पर ही वे ग्यारह या एक सौ ग्यारह बन सकते हैं। यह जोड़ मन का काम है। वह अतीत की घटना से निष्कर्ष निकालता है, वर्तमान को बदलता है और भविष्य को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। वह अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना करता है। यदि स्मृति और कल्पना नहीं होती तो हमारी दुनिया बहुत छोटी होती। हमारी दुनिया का विस्तार स्मृति और कल्पना के आधार पर हुआ है।

मन और बुद्धि का विकास होने पर मनुष्य ने सोचा—‘मैं कौन हूँ? मेरे सामने है वह कौन है?’ अस्तित्व की खोज शुरू हो गई। उस खोज ने हमें आत्मा और परमात्मा की चर्चा तक पहुंचा दिया। जब मन और बुद्धि हमारे साथ नहीं थे तब आत्मा और परमात्मा की कोई चर्चा नहीं थी। वह चर्चाहीन जगत् था। चर्चा के जगत् में हमने प्रश्न पूछे अपने से कम और दूसरों से अधिक। उनके उत्तर मिले, अपने से कम और दूसरों से अधिक। हमारी चेतना इतनी विकसित नहीं हुई कि हम अध्यात्म की गहराई में जाकर अपने आपसे पूछें, अपने आप उसका समाधान

पा जाएं। समाधान का सही उपाय है अपने आपसे पूछना। जो मनुष्य अपने आप में समाधान खोजता है, उसे वह मिल जाता है। जो दूसरे से समाधान लेना चाहता है, उसका मार्ग बहुत जटिल है।

एक युवक बोधिधर्म के पास गया। वे बहुत बड़े साधक थे। युवक ने पूछा—‘भते ! मैं कौन हूँ?’ बोधिधर्म ने एक चांटा मारा और भर्त्सना के स्वर में कहा—‘चले जाओ, मूर्ख !’ युवक विस्मय में डूब गया। इतना बड़ा साधक, इतना बड़ा ज्ञानी और मैंने छोटा-सा प्रश्न पूछा और उसका उत्तर मिला चांटा। वह दूसरे साधक के पास जाकर बोला—‘भते ! मैंने बोधिधर्म से पूछा कि मैं कौन हूँ? उन्होंने उत्तर नहीं दिया, मुझे चांटा मारा।’ साधक ने कहा—‘बोधिधर्म ने तुम्हें चांटा मारा और यदि वही प्रश्न मुझसे पूछते तो मैं डंडा मारता।’ वह कुछ समझ नहीं पाया, परेशान होकर चला गया। दूसरे दिन युवक फिर बोधिधर्म के पास गया। उसने कहा—‘भते ! मैंने आपसे प्रश्न पूछा था। आपने उसका कोई उत्तर नहीं दिया और चांटा मारा। क्या उत्तर देने का यह भी कोई तरीका है? भन्ते ! आपने यह क्या किया?’ बोधिधर्म ने कहा—‘इस प्रश्न को मत छोड़ो। यदि छोड़ोगे तो कल चांटा पड़ा था और आज कुछ और पड़ सकता है।’ युवक घबरा गया। वह भर्त्सा के स्वर में बोला—‘भते ! तो क्या करूँ?’ बोधिधर्म बोले—‘तुम मूर्ख हो।’ ‘मैं मूर्ख कैसे?’ युवक ने पूछा। बोधिधर्म ने कहा—‘जो बात अपने से पूछनी चाहिए वह बात तुम दूसरे से पूछ रहे हो। इसलिए तुम मूर्ख हो। जाओ, यह प्रश्न अपने आप से पूछो कि मैं कौन हूँ?’ बात समाप्त हो गई। युवक का समाधान हो गया।

हमारी दुनिया बड़ी विचित्र है। जो बात अपने से पूछनी चाहिए वह दूसरों से पूछते हैं और जो दूसरों से पूछनी चाहिए वह अपने से पूछते हैं। दूसरों से पूछना चाहिए कि ‘तुम कौन हो?’ वह हम अपने आप से पूछते हैं। अपने आप से पूछना चाहिए कि ‘मैं कौन हूँ?’ उसे हम दूसरों से पूछते हैं। ‘मैं कौन हूँ?’—इसका उत्तर मैं दूसरों से चाहता हूँ, इसलिए उसका उत्तर नहीं मिलता और तब तक नहीं मिल सकता जब तक उसके उत्तर की खोज बाहरी जगत् में चलेगी। ‘मैं कौन हूँ?’ इसका उत्तर पाने के लिए हमने एक चरण आगे बढ़ाया और हम चेतना को बाहर से भीतर की ओर ले गए। वहां हमें अपने अस्तित्व का अनुभव हो गया। हमारी इन्द्रियां, वाणी और मन—ये चेतना को बाहर की ओर ले जा रहे थे। हमें बाह्य-दर्शन हो रहा था। प्रज्ञा ने चेतना को भीतर की ओर मोड़ा तो हमें आत्म-दर्शन होने लगा। हमारी बहिर्-आत्मा की यात्रा समाप्त हो गई और अन्तर-आत्मा की यात्रा प्रारम्भ हो

गई। चेतना की रश्मियों को मूल चेतना के साथ जोड़ने का प्रस्थान शुरू हो गया। आत्मा और परमात्मा के बीच का एक सेतु निर्मित हो गया। इस पार आत्मा और उस पार परमात्मा। दोनों के बीच का सेतु हो गया अन्तर्आत्मा।

‘जो मनुष्य परमात्मा होना चाहता है उसे परमात्मा को जानना-देखना होता है। जो अर्हत् को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है। जो अर्हत् को नहीं जानता वह अपनी आत्मा को भी नहीं जानता।’ आचार्य कुन्दकुन्द का साधना-सूत्र परमात्मा होने का मूल्यवान् सूत्र है। साधारणतया कहा जाता है कि पहले आत्मा को जानो, फिर परमात्मा को जानो। वास्तविकता यह है कि पहले परमात्मा को जानो, फिर आत्मा को जानो। परमात्मा को जाने बिना आत्मा को नहीं जाना जा सकता।

एक पुरानी कहानी है। राजा ने चित्रकारों को आमन्त्रित किया। देश भर के चित्रकार एकत्रित हुए। राजा ने कहा—‘राजमुद्रा बनानी है। उसमें बांग देते हुए मुर्गे का चित्र होगा। ऐसा जीवन्त चित्र बनाओ जिससे मुद्रा की श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। सर्वश्रेष्ठ चित्र पुरस्कृत किया जाएगा।’ चित्रकार बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया। कुछ दिन बाद वे चित्र बनाकर लाए और राजा के सामने प्रस्तुत किए। राजा ने देखा और प्रसन्न हुआ। उसे चित्र बहुत अच्छे लगे। उसने सोचा—‘मैं कोई कलाकार तो हूँ नहीं। किस चित्र को प्राथमिकता दी जाए, इसका निर्णय कौन करे?’ राजा ने सोच-विचारकर एक बूढ़े चित्रकार को बुलाया किसी समय वह राज्य का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार था। किन्तु अब बूढ़ा हो चला था। राजा ने कहा—‘इन चित्रों में कौन प्रथम है, इसका निर्णय करो।’ चित्रकार सारे चित्रों को ले गया। दूसरे दिन आकर बोला—‘महाराज मुद्रा में देने लायक एक भी चित्र नहीं है। सब बेकार हैं।’ ‘यह कैसे कहते हो? चित्र बहुत सुन्दर हैं’—राजा ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा। चित्रकार बोला—‘सुन्दर तो हैं। किन्तु आपने कहा था जीवन्त चित्र होना चाहिए। इनमें जीवन्त चित्र एक भी नहीं है।’ राजा कठिनाई में पड़ गया। ‘राज्य के सारे मूर्धन्य कलाकार आ गए। उनका एक भी चित्र पसन्द नहीं आया तो फिर तुम बनाओ!’ राजा ने कहा। चित्रकार बोला—‘मैं बूढ़ा हो गया हूँ, कैसे बनाऊँ? फिर भी यदि आप चाहते हैं तो मैं चित्र बनाऊँगा, पर मुझे तीन वर्ष चाहिए।’ ‘तीन वर्ष का समय!’ राजा ने विस्मय के साथ पूछा। चित्रकार ने कहा—‘श्रेष्ठता साधना के बिना प्राप्त नहीं होती। तात्कालिकता काम-चलाऊ हो सकती है, किन्तु वह श्रेष्ठता का सृजन नहीं कर सकती।’

चित्रकार तीन वर्ष की अवधि लेकर वहाँ से चला गया। छह मास बीत गए।

चित्रकार कभी राजा से मिला ही नहीं। राजा ने उसके कार्य की जानकारी लेने के लिए अपने विश्वस्त कर्मचारी को भेजा। वह चित्रकार के घर गया। वह घर में नहीं मिला। खोजते-खोजते वह जंगल में गया। उसने देखा, वहां एक बाड़ा है। उसमें पचासों मुर्गे हैं बूढ़ा चित्रकार मुर्गों के बीच में बैठा है। राजा के कर्मचारी ने पूछा—‘क्या चित्र बन गया?’ बूढ़ा बोला—‘चित्र बना रहा हूँ।’

‘कब तक बनेगा?’

‘अभी ढाई वर्ष लगेंगे।’

ढाई वर्ष बीत गए। राजा ने फिर जांच करवाई चित्रकार को बुलाकर कहा—‘चित्र लाओ।’

‘चित्र अभी बना नहीं है।’

‘तीन वर्ष बीत गए, फिर चित्र क्यों नहीं बना? अब तक क्या किया?’

‘क्या किया, यह बताऊं?’

‘मैं अवश्य जानना चाहूंगा।’

राजसभा में चारों ओर मुर्गों की आवाज होने लगी। इधर-उधर मुर्गा दौड़ने लगा। सभासदों ने देखा, यह कैसा आदमी? यह तो मुर्गा है। वही भाषा, वही व्यवहार और वही आचरण। राजा ने कहा—‘यह क्या करते हो?’ ‘महाराज! तीन वर्षों में मैंने क्या किया, वह बता रहा हूँ। मैं मुर्गा हो गया हूँ।’

‘मुझे तुम्हें मुर्गा नहीं बनाना है, मुझे मुर्गों का चित्र चाहिए।’

‘मुर्गे बने बिना मुर्गों का चित्र नहीं बना सकता।’

‘तो तुम मुर्गा बन गए? अब चित्र लाओ।’

‘चित्र में क्या कठिनाई है। आधा घंटे का काम है। तूलिका लाओ, रंग कागज लाओ, अभी चित्र तैयार कर देता हूँ।’

सारी सामग्री लाई गई, और देखते-देखते चित्र तैयार हो गया।

राजा ने पूछा—‘क्या यह जीवन्त चित्र है?’

‘महाराज! हां।’

‘इसकी कसौटी क्या है? वे जीवन्त नहीं थे और यह जीवन्त क्यों है?’

चित्रकार ने एक मुर्गा मंगाया। पहले के चित्रों को रखा और उनके सामने मुर्गों को छोड़ा। मुर्गा चित्रों के सामने गया और मुंह फेरकर लौट आया। सबके बाद अपना चित्र रखा। उसे देखते ही मुर्गा सक्रिय हो गया। लड़ने की मुद्रा में आ गया।

उसने चित्र के मुर्गे पर आक्रमण कर दिया। चित्रकार बोला—

‘महाराज ! यह जीवन्त चित्र है। मुर्गा मुर्गे से लड़ रहा है।’

‘इतना जीवन्त चित्र। इतनी जल्दी कैसे बनाया तुमने?’ राजा ने पूछा।

चित्रकार ने कहा—‘महाराज ! मैंने तीन वर्ष का समय मुर्गा बनने में लगाया। अगर मैं मुर्गा नहीं बनता तो जीवन्त मुर्गा नहीं बना पाता।’

जो स्वयं देवता नहीं होता, वह देवता की पूजा नहीं कर सकता। कोई मनुष्य देवता होकर ही देवता की पूजा कर सकता है। परमात्मा की उपासना किए बिना आत्मा परमात्मा नहीं हो सकती। परमात्मा की उपासना में लम्बा समय लगता है, परमात्मा होने में लम्बा समय नहीं लगता। जो परमात्मा को नहीं देखता, वह कभी परमात्मा नहीं बन सकता।

आत्मा के विकास की एक सीमा है। चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मियों में से कुछेक रश्मियां उसमें प्रकट होती हैं। शेष सारी परदे के पीछे रहती हैं। दूसरी सीमा यह है कि शक्ति के अनन्त स्रोतों में से कुछेक स्रोत उसमें प्रवाहित होते हैं। तीसरी सीमा यह है कि उसका आनन्द विकृत रहता है। वह आनन्द को खोजती है—वस्तुओं में, शब्दों में और वातावरण में भीतर में आनन्द का अक्षय कोष होता है। उसकी ओर भी ध्यान नहीं जाता। क्या खाना कोई आनन्द है। आपके शरीर पर कोई फोड़ा हो रहा है। उस पर मरहमपट्टी की जा रही है। क्या फोड़े पर मरहमपट्टी करना कोई आनन्द है। फोड़े पर मरहमपट्टी करने में थोड़े आनन्द का अनुभव होता है। कुछ आराम मिलता है। ये पेट के फोड़े कुलबुलाने लगते हैं, यह जठराग्नि कष्ट देने लगती है, तब आदमी थोड़ा-सा भीतर डाल देता है। वे शांत हो जाते हैं। आदमी सोचता है, बहुत आनन्द मिला। यह आनन्द है या फोड़े का इलाज? शरीर को खुजलाने में आनन्द का अनुभव होता है। भला शरीर को खुजलाना भी कोई आनन्द है? हमारी सीमा बन गई। जिसमें आनन्द नहीं है उसमें आनन्द खोजते हैं। जिसमें आनन्द नहीं है उसमें आनन्द पाने का प्रयत्न करते हैं।

आत्मा की तीन सीमाएं हैं—

- ज्ञान का आवरण।
- शक्ति का स्खलन।
- आनन्द की विकृति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढ़ते हैं, उस दिशा में हमारा प्रायण होता है, वैसे-वैसे ये सीमाएं टूटती चली जाती हैं। आवरण समाप्त होता चला जाता है।

बादलों से ढंका हुआ सूर्य प्रकट होने लग जाता है और एक दिन वह पूरा का पूरा प्रकट हो जाता है। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे शक्ति के अवरोध समाप्त होते चले जाते हैं। वे ऊबड़-खाबड़ भूमि में होते हैं। समतल में कोई अवरोध नहीं होता। समता के चरमबिन्दु पर पहुंचते ही सारे गढ़े भर जाते हैं और शक्ति के सारे स्रोत प्रवाहित हो जाते हैं। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे आनंद का सागर लहरा उठता है। आवेश और एषणा के समाप्त होते ही विकृति के तूफान शांत हो जाते हैं। आनन्द के सिन्धु की ऊर्मियां आत्मा के चरण पखारने लग जाती हैं। यह है परमात्मा की स्थिति।

शिष्य ने पूछा—‘गुरुदेव ! मैं परमात्मा कैसे बन सकता हूं?’

गुरु ने उत्तर दिया—‘तुम परमात्मा बनना चाहते हो तो उसका ध्यान करो। उसे देखते रहो। परमात्मा का ध्यान नहीं करने वाला कभी परमात्मा नहीं बन सकता। परमात्मा वही बन सकता है जो परमात्मा को देखता है, उसका मनन करता है, उसका चिन्तन करता है और उसमें तन्मय रहता है।

परमात्मा के प्रति होने वाली तन्मयता आत्मा में छिपे हुए परमात्मा के बीज को अंकुरित करती है और वे अंकुर बढ़ते-बढ़ते स्वयं परमात्मा बन जाते हैं।



साधना का मार्ग

१. शरीर को सताना धर्म नहीं

अमरीकी उद्योगपति हेनरी फोर्ड जब युवक था, तब एक दिन ट्रेन से न्यूयार्क जा रहा था। त्यौहार का दिन था। 'होटल भरे हुए मिलेंगे। कहां ठहरूंगा?' वह इसी उधेड़-बुन में था। इतने में ही टिकट-चेकर आ पहुंचा। उसने पूछा—'टिकट है?' युवक ने कोई उत्तर नहीं दिया। दूसरी बार फिर पूछा और फिर उत्तर नहीं दिया। तीसरी बार फिर पूछा और फिर उत्तर नहीं मिला। चेकर गरम हो गया। उसने उत्तेजनापूर्ण शब्द कहे। युवक ने भी कुछ तीखी बातें कहीं। दोनों में झड़प हो गई। चेकर ने पुलिस को बुला लिया। पुलिस उसे थाने में ले गई। युवक रातभर थाने में रहा। प्रातःकाल उसे न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया गया। न्यायाधीश ने देखा युवक की शालीन आकृति को, उसकी वेशभूषा को और व्यवहार को। उसे ऐसा नहीं लगा कि इसने टिकट न ली हो। न्यायाधीश ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा—'तुम अच्छे युवक हो। मैं कारण नहीं समझ पाया कि तुमने टिकट क्यों नहीं लिया?' युवक ने अपनी जेब में हाथ डाला और फस्ट क्लास का टिकट न्यायाधीश के सामने रख दिया। न्यायाधीश ने कहा—'भद्रपुरुष! तुम्हारे पास टिकट था, फिर तुम थाने में क्यों गए?' युवक ने कहा—'मेरे पास बहुत कीमती सामान था। उसकी सुरक्षा के लिए उपयुक्त स्थान की खोज कर रहा था। फिर भला थाने से अधिक सुरक्षित स्थान कौन-सा मिलता? मैं रातभर वहां रहा। मजे से नींद ली। मेरा सामान सुरक्षित रहा और सन्तरी बन्दूक लिये पहरा देता रहा।'

थाने में जाने के दो अर्थ हो सकते हैं—कोई आदमी अपराध कर थाने में जाता है और कोई आदमी माल की सुरक्षा के लिए भी थाने में चला जाता है। युवक ने कोई अपराध नहीं किया था। उसके पास टिकट मौजूद था। किन्तु उसे अपने कीमती सामान की सुरक्षा करनी थी। उसे उस समय इससे अच्छा स्थान कोई नहीं मिल रहा था। वह वहां चला गया।

शरीर एक कारागृह है। कुछ लोग उसमें बन्दी बने बैठे हैं और कुछ लोग

अपने बहुमूल्य सामान की सुरक्षा के लिए उसमें रह रहे हैं। उस कारागृह में रहना सबके लिए जरूरी है। पर रहने का अर्थ एक नहीं है। कोई व्यक्ति कष्ट पाने के लिए उसमें रहता है और कोई कष्ट से मुक्ति पाने के लिए उसमें रहता है। साधना का संकल्प होता है—सब दुःखों से छुटकारा पाना। भगवान् महावीर ने कहा—‘साधना का मार्ग सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है।’ साधक एक ओर उस मार्ग पर चले और दूसरी ओर दुःखों को आमंत्रित करे—इन दोनों में कोई संगति नहीं हो सकती। जब दुःख के वलय को तोड़ना है तो फिर उसका वरण नहीं हो सकता। काय-क्लेश का अर्थ दुःखों को आमंत्रित करना नहीं हो सकता। शरीर को सताना, उसे दुःख देना, परम धर्म नहीं हो सकता।

शरीर को कष्ट देना और शरीर में कष्ट आना—ये दो बातें हैं। पहली बात, शरीर अचेतन है। अचेतन में हमारे प्रति शत्रुता का भाव नहीं है। फिर हम उसे क्यों कष्ट दें? दूसरी बात, वह हमारी प्रगति में सहायक है। जो सहायक है उसे हम क्यों सताएं? हम उसे इतना शक्तिशाली बनाएं जिससे वह आने वाले कष्ट को झेल सके। इसलिए भगवान् महावीर ने शरीर की साधना के दो सूत्र दिए—कायक्लेश और कायोत्सर्ग। कायक्लेश काया की सिद्धि का सूत्र है। इस जगत् में भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि अनेक द्वन्द्व हैं। उन द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने पर काया की सिद्धि हो जाती है। कायोत्सर्ग काया की मुक्ति का सूत्र है। शरीर का शिथिलीकरण करते-करते हम उस स्थिति में पहुंच जाते हैं जहां शरीर का बन्धन नहीं रहकर एक शक्ति का वलय मात्र रह जाता है। यह तनावमुक्ति की साधना है। कायक्लेश में कुछ तनाव होता है, मात्र शारीरिक। मानसिक तनाव की मुक्ति के लिए शारीरिक तनाव उत्पन्न करना और फिर उसे भी कायोत्सर्ग की साधना से विसर्जित कर देना—यह साधना का एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

साधक का पहला संकल्प होता है—आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करना। आत्मा और शरीर भिन्न है तो फिर शरीर को सताने की बात कैसे हो सकती है? आत्मा और शरीर एक हो तो भी शरीर को सताने की बात कैसे हो सकती है? साधना में शरीर को सताने की बात किसी भी दृष्टि से प्राप्त नहीं होती। काया के साथ जुड़ा हुआ ‘क्लेश’ शब्द उलझन में डालता है। उसी शब्द के आधार पर काया को कष्ट देने की धारणा भी बन जाती है पर ‘क्लेश’ शब्द ध्वनित नहीं करता कि शरीर को कष्ट दो या प्राप्त कष्ट को सहो। कायक्लेश एक तप है। तप की ध्वनि कष्ट देने की नहीं हो सकती। उसकी ध्वनि कष्ट सहने की हो सकती है।

मुगलों से मराठों की लड़ाई चल रही थी। मराठे 'गुरिल्ला' युद्ध लड़ रहे थे। वे मुगलों पर हमला करते और फिर अपने ठिकानों पर लौट आते। इस लड़ाई में उन्हें काफी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। भोजन, वस्त्र आदि की समस्या उनके सामने बनी रहती। सर्दों का मौसम था। मराठा सैनिकों के पास पूरे कपड़े नहीं थे। एक सैनिक के कपड़े फट गए। चारों ओर चिंदियां लटक रही थीं। उसके मन में जरा उदासी आ गई। वह अपनी अधीरता लिए हुए छत्रपति शिवाजी के पास पहुंचा। उसने कहा—'महाराज ! भयंकर सर्दों पड़ रही है। शरीर कांप रहा है। सर्दों से बचने का कोई साधन नहीं है। सर्दों को मैं सहन भी कर लूंगा पर शरीर को भी पूरा नहीं ढक पा रहा हूँ। लज्जा भी नहीं बच रही है।' शिवाजी ने देखा, वीर सैनिक अधीर हो रहा है। उसका मन कायर हो गया है। शिवाजी बोले—'बहादुर सैनिक ! तुम जानते हो तुम्हारे शरीर पर घाव हैं ? ये घाव क्या कहते हैं ?' सैनिक अहंकार के साथ बोला—'मेरे पराक्रम की गाथा गाते हैं।' 'तो वीर सैनिक ! यदि तुम पूरे कपड़े पहन लोगे तो ये घाव ढंक जाएंगे। वे कपड़े तुम्हारी वीरता को ढंकने वाले होंगे।' सैनिक आश्चस्त होकर चला गया।

सुख-सुविधा की मनोवृत्ति वीरता के घावों को ढंकने वाली होती है। जब हमारे मन में सुख पाने का भाव पैदा होता है तब पराक्रम का भाव दब जाता है। शरीरदर्शी आदमी सुख की बात सोचता है और आत्मदर्शी हित की बात सोचता है। सुख छोटा सत्य है और हित बड़ा सत्य है। आदमी को पांच-दस घंटा बैठे रहने में सुख मिल सकता है, किन्तु वह हित नहीं है। उससे मधुमेह की बीमारी की सम्भावना बढ़ जाती है। महर्षि चरक ने 'सुखासिका' को मधुमेह का कारण बतलाया है। सुख की सीमा है। शरीर को सुख-सुविधा की भी अपेक्षा है। किन्तु उसका अतिरेक होना अच्छी बात नहीं है। वह शरीर के लिए घातक बन जाता है। इस सत्य की छाया में हम कायक्लेश का हार्द समझ सकते हैं। मनुष्य में विषय की भावना प्रबल न हो, सुख की आसक्ति तीव्र न हो, कर्तव्य-विमुखता का भाव जागृत न हो—इन दृष्टियों को सामने रखकर भगवान् महावीर ने कायक्लेश का विधान किया। यह तप का विधान नहीं है। आटे में पानी मिलाया, वह गीला हो गया। उसकी रोटी बना ली, फिर वह गीली नहीं होती। आग में तपी हुई रोटी गीली नहीं होती। तप से तपा हुआ शरीर गीला नहीं होता।

कच्चे घड़े में पानी नहीं डाला जा सकता। वह आग की आंच में पक जाता है तब उसमें जल-धारण की शक्ति पैदा हो जाती है। क्या घड़े को पकाना उसे

सताना है। एक कुम्हार घड़े को पका रहा है। क्या हम कहें कि वह घड़े को सता रहा है? यह सताने की प्रक्रिया नहीं, यह पकाने की प्रक्रिया है। कायक्लेश शरीर के सताने की प्रक्रिया नहीं है, वह शरीर को तपाने की प्रक्रिया है। जिसका शरीर सधा हुआ नहीं होता वह कठिनाई को नहीं झेल सकता। वज्रासन सुखकर भले न हो, हितकर अवश्य है। जिसने घुटनों को नहीं साधा वह वज्रासन की मुद्रा में नहीं बैठ सकता। उसके घुटने टूटने लग जाते हैं।

जो सर्दों में अधिक वस्त्रों से लदा रहता है, उसमें सर्दों के प्रतिरोध की क्षमता विकसित नहीं हो सकती। गर्मी को सहने के लिए भी शरीर को साधना होता है। शून्य में रहना, अकेले में रहना बहुत बड़ी समस्या है। अन्तरिक्ष यात्री को इन समस्याओं का सामना करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। किसी व्यक्ति को अकस्मात् अन्तरिक्ष यान में नहीं भेजा जाता। उसी व्यक्ति को वहां भेजा जाता है जो प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका होता है।

कायक्लेश साधना के प्रशिक्षण का दूसरा पाठ है। पहला पाठ है—उपवास का प्रशिक्षण। भगवान् महावीर ने आहार के विषय में चार निर्देश दिए थे—१. उपवास, २. अल्प-आहार, ३. आहार-विषयक विविध संकल्प, ४. दूध-दही आदि का परित्याग।

जैन धर्म में उपवास की अनिवार्यता नहीं है। व्यक्ति की शक्ति और आंतरिक क्षमताओं के जागरण की उपयोगिता—इन दोनों के सामंजस्य पर उपवास का निर्देश है। तब तक उपवास करो जब तक मन स्वस्थ और प्रसन्न रहे। मन की पवित्रता न रहे तब उपवास की पवित्रता भी नहीं रहती। भोजन न करने का शरीर पर प्रभाव होता है, पर उससे आंतरिक क्षमताओं के विकास में पूर्ण सहयोग मिलता है। यह शरीर और मन को सताने की प्रक्रिया नहीं है।

कायक्लेश के विषय में भगवान् ने तीन निर्देश दिए—आसन, आतापना और शरीर-संस्कार का परित्याग। हमारे शरीर में अनेक शक्ति-केन्द्र हैं। उन्हें जागृत करने के लिए आसनों का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारी ग्रन्थियों का नियमित स्नाव मानसिक विकास के लिए आवश्यक है। आसन उस कार्य में हमारा सहयोग करते हैं। सर्वांगासन कंठमणी (Thyroid Glands) के स्नाव को नियमित रखता है। आधा घंटा सर्वांग आसन करने से शरीर को कष्ट होता है किन्तु यह कष्ट के लिए कष्ट नहीं है। यहां कष्ट का अर्थ सुख और हित है। जिस आचरण से शरीर को कष्ट हो, सुख और हित न हो वह शरीर का संताप हो सकता है। मत्स्यासन, वज्रासन, वीरासन

आदि-आदि आसनों का क्षमता के विकास में समुचित स्थान है। इसलिए उनकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आतापना भी बहुत मूल्यवान् है। सूर्य का आतप शारीरिक शक्ति का ही जीवन-मन्त्र नहीं है, चैतन्य के प्रकाश का भी रहस्यपूर्ण मन्त्र है। इससे तैजस बढ़ता है और प्रकाशावरण क्षीण होता है। आंखें खोलकर सूर्य का आतप लेना, सूर्य पर त्राटक करना बहुत लाभदायक है तो बहुत खतरनाक भी। पहले चरण में सूर्य की ओर पीठ कर उसका आतप लिया जाता है या लेटकर। दूसरे चरण में खड़े होकर, सूर्य के सामने मुंह कर उसका आतप लिया जाता है। कुछ साधक प्रातःकाल में आतप लेते हैं और कुछ मध्याह्न में। भगवान् महावीर के युग में सैकड़ों-सैकड़ों मुनि इस आतापना का प्रयोग करते थे।

२. कायोत्सर्ग

कबीर को अनुभव हुआ कि जब मैं था तब गुरु नहीं था, अब गुरु हैं तो मैं नहीं रहा। कारण बहुत साफ है कि प्रेम की गति अति संकरी है। इतनी संकरी कि उसमें दो नहीं समा सकते। उसमें एक ही रह सकता है, या मैं या गुरु।

शरीर और आत्मा—दोनों का अनुभव एक साथ नहीं हो सकता। या शरीर का एक अनुभव होता है या आत्मा का। हम शरीर में रहते हुए आत्मा के अनुभव में जाते हैं तब शरीर विसर्जित हो जाता है, कायोत्सर्ग हो जाता है। आत्मा का अनुभव होना और शरीर के अनुभव का समाप्त हो जाना कायोत्सर्ग है। 'मैं शरीर हूँ'—यह अनुभूति जाने-अनजाने सुदीर्घकाल से चल रही है। जिस क्षण शरीर की मूर्च्छा टूट जाती है, 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह चेतना जागृत हो जाती है, तब कायोत्सर्ग सम्पन्न होता है। जब मौत होती है तब काया छूट जाती है, किन्तु उसका ममत्व नहीं टूटता। 'मैं शरीर हूँ'—यह भावना नहीं टूटती किन्तु उसकी पकड़ और मजबूत होना चाहती है। मरते समय आदमी के मन में एक विचित्र प्रकार का मोह जगता है। वह मरने से घबराता है। उसे मरने का डर लगता है। डर इस बात का है कि मेरा शरीर छूट जाएगा। जिस घर में रहता था, वह मेरे हाथ से छूट जाएगा। मौत से हमारा कुछ बिगड़ता नहीं है। आपने एक अच्छा घर बनाया। वह घर पुराना हो गया, टूट-फूट गया। आपको कोई नये में रहने का निमंत्रण दे, क्या आप उसे पसन्द नहीं करेंगे? क्या पुराने घर को छोड़ नये घर में नहीं चले जाएंगे? आप अवश्य ही उसमें जाना चाहेंगे। फिर मौत से घबराने की क्या बात है? हमारा शरीर, जो वर्षों से काम करते-करते पुराना हो जाता है, यदि वह हमसे छूटता है और नया घर

प्रस्तुत होता है तो फिर घबराहट क्यों ? घबराहट होने का कारण शरीर का छूटना नहीं किन्तु उसका ममत्व है। मन का ममत्व नहीं छूटता इसलिए मौत के क्षण में काया के छूट जाने पर भी कायोत्सर्ग नहीं होता। जिस क्षण मूर्च्छा का बन्धन शिथिल होता है उस क्षण शरीर का तनाव मिट जाता है, कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है।

कायोत्सर्ग से तनाव दूर होता है और बाहरी प्रभावों से बचाव भी होता है। भगवान् महावीर से पूर्व की घटना है। भगवान् पार्श्व के शिष्य साधना कर रहे थे। उनमें प्रमुख थे मुनि सुदर्शन। उस समय एक महामात्रिक था। उसका नाम था सुकर्ण कापालिक। वह मन्त्र की साधना कर रहा था। उसे बलि देने के लिए सर्व-लक्षण-सम्पन्न पुरुष की अपेक्षा थी। एक दिन सुदर्शन मुनि कुछ साधुओं के साथ सुकर्ण के आश्रम के पास पहुंचे। सुकर्ण के शिष्यों ने उन्हें देखा। उन्होंने सुकर्ण को सूचना दी—‘अपने आश्रम के पास कुछ जैन मुनि आ रहे हैं। उनमें जो अग्रणी है वह सर्व-लक्षण-सम्पन्न है। उसकी बलि दी जा सकती है।’ सुकर्ण ने अपने कर्मकारों को भेजा। वे सुदर्शन मुनि को पकड़कर आश्रम में ले आए। मुनि ने देखा, सामने देवी की मूर्ति है। स्थान-स्थान पर रक्त से सनी खोपड़ियां पड़ी हैं। वे समझ गए—मैं बलि के लिए लाया गया हूं। उनके मन में न कोई चिन्ता और न कोई भय। उन्हें बलि की वेदी पर ले जाकर खड़ा किया गया। वे कायोत्सर्ग कर ध्यान में लीन हो गए। सुकर्ण ने मन्त्र का उच्चारण किया। उनके मुख्य शिष्य चंड ने मुनि के बध के लिए तलवार उठाई। वह गले तक पहुंचते-पहुंचते हाथ से गिर गई। चंड भी गिर पड़ा। जितने भी धूप-दीप थे वे सब गिर पड़े। सुदर्शन अपने स्थान पर खड़े रहे। कुछ समय बाद कायोत्सर्ग पूरा कर उन्होंने देखा कि सब लोग मूर्च्छित पड़े हैं। वे बाहर गए। प्रतीक्षा में खड़े मुनियों को साथ ले वे आगे चले गए।

सुकर्ण और उसके शिष्य की मूर्च्छा भंग हुई। उन्होंने देखा, मुनि वहां नहीं हैं। सुकर्ण उस युग का सबसे बड़ा मात्रिक था। उसके चंगुल में फंसा हुआ व्यक्ति इस प्रकार मुक्त होकर चला जाए, यह उसके लिए घोर अपमान की बात थी। वह क्रुद्ध हो उठा। उसने मुनि को मारने के लिए एक यज्ञ प्रारम्भ किया। महाज्वाला की साधना प्रारम्भ की। सात पुरुषों की बलि दी। महाज्वाला प्रकट हुई। उसने कार्य का निर्देश चाहा। सुकर्ण बोला—‘सुदर्शन मुनि को, उसके परिवार के साथ जला डालो।’ महाज्वाला वहां पहुंची। कुछ मुनि सुदर्शन के साथ-साथ चल रहे थे। एक वृद्ध मुनि कुछ आगे-आगे चल रहे थे। उनके पैरों के पास ज्वाला भभक उठी। वे

उसमें भस्म हो गए। मुनि सुदर्शन ने इस घटना को देखा और अपने साथ के मुनियों को सावधान कर वे कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गए। महाज्वाला ने मुनिगण के चारों ओर ज्वाला प्रज्वलित की। पर वह सुदर्शन मुनि के आभा-वल्लय के पास तक नहीं पहुंच पा रही थी। महाज्वाला अपने प्रयत्न में असफल होकर लौट गई। उसने सुकर्ण से कहा—‘मैं जल रही हूँ, मुझे शांत करो।’ सुकर्ण ने पूछा—‘सुदर्शन को जला डाला?’ ‘नहीं जला सकी’—महाज्वाला ने उत्तर दिया। सुकर्ण अपना धैर्य खो बैठा। उसने आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा—‘देवी! क्या तुम्हारी शक्ति नष्ट हो गई? ऐसा क्यों हुआ?’ महाज्वाला ने कहा—‘उसके चारों ओर अभेद्य कवच है। उसे भेदकर मैं भीतर नहीं जा सकी।’

यह आभा-वल्लय, यह तैजस कवच कायोत्सर्ग की शक्ति का प्रतिबिम्ब है। साधारणतया दो स्थितियों में कायोत्सर्ग का विधान है—प्रवृत्ति के बाद और कष्ट के क्षणों में। प्रवृत्ति की सम्पन्नता होने पर कायोत्सर्ग करने से शारीरिक, स्नायुविक और मानसिक तनाव समाप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले दोष निरस्त हो जाते हैं।

साधु जंगल में से गुजर रहे हैं। सामने से सिंह आया। वे कायोत्सर्ग में खड़े हो गए। सिंह चला गया। जैन साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इन घटनाओं के पीछे भी वास्तविकता है। कायोत्सर्ग करने वाला चेतना के उस तल में चला जाता है जिस तल में जाने पर तैजस शरीर की सक्रियता बढ़ जाती है। वह इतना आलोक विकीर्ण करता है कि उसके पास आने वाला निस्तेज हो जाता है। कायोत्सर्ग तैजस के विकिरण की एक रहस्यपूर्ण पद्धति है। वह चेतना के सूक्ष्मलोक में चले जाने पर अपने-आप घटित होती है।

कायोत्सर्ग अवतरण की प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति किसी बाह्य प्रभाव को ग्रहण करना चाहता है। वह तनाव की स्थिति में नहीं हो सकता। तनाव प्रतिरोध पैदा करता है। कायोत्सर्ग में शारीरिक शिथिलता आ जाती है। इसलिए उस स्थिति में दूसरे एकात्मकता स्थापित करने की सुविधा हो जाती है।

शरीर से मन और ममत्व को हटा लेने पर पीछे केवल शरीर रह जाता है। जैसे ही मन का शिथिलीकरण होता है, वैसे ही शरीर का शिथिलीकरण हो जाता है और शरीर का शिथिलीकरण होने पर मन का शिथिलीकरण हो जाता है। हम लेट रहे हैं, बैठे हैं या खड़े हैं, कायोत्सर्ग इन तीनों मुद्राओं में किया जा सकता है। शरीर के एक-एक अंग पर शिथिलता का अनुभव करते चले जाएं। शिथिलता की भावना

और शिथिलता का संकल्प । इस प्रक्रिया से दो-तीन क्षणों में शरीर शिथिल हो जाता है । प्रवृत्ति छूट जाती है और चिन्तन भी छूट जाता है । एक प्रकार की नींद का अनुभव होने लग जाता है । न पूरी नींद और न पूरी जागृति, थोड़ी नींद और थोड़ी जागृति—यह मिश्रित अनुभव होने लग जाता है । इस स्थिति में कम से कम आधा घंटा रहना शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक विकास—दोनों के लिए हितकर है । कायोत्सर्ग मृत्यु की उपासना है । जिसे कायोत्सर्ग का अच्छा अभ्यास होता है वह मूर्च्छित अवस्था में नहीं मरता । वह मृत्यु के अन्तिम क्षण तक जागृत रहता है और उसे शरीर छूटने के अन्तिम क्षण का बोध होता है । कहा जाता है कि मृत्यु के क्षण में कष्ट होता है । कष्ट मृत्यु से नहीं होता । वह कल्पना के कारण होता है । मृत्यु में भय की कल्पना है । भय के कारण स्नायुओं में सिकुड़न होती है । स्नायु की सिकुड़न होती है । स्नायु की सिकुड़न दर्द पैदा करती है । साधारण पीड़ा भी स्नायुविक सुकुड़न के कारण तीव्र बन जाती है । हमारे शरीर में भय न हो, स्नायुओं में सिकुड़न न हो, इस भावना की पूर्ति स्नायु की उपासना से ही हो सकती है ।

३. स्थूल कर्म शरीर का प्रकम्पन

जिसे हम देख रहे हैं, वह स्थूल शरीर है । उनमें एक सूक्ष्म शरीर है । उसका नाम तैजस है । वह स्थूल शरीर को सक्रिय बनाता है, संचालित करता है । यह प्राण-शक्ति का स्रोत है । वैज्ञानिकों ने ऐसे कैमरे निर्मित किए हैं जिनके द्वारा आभा-मंडल के फोटो लिए जा सकते हैं । पुराने जमाने की परिभाषा थी—जिसमें श्वास चले वह जीवित और जिसमें श्वास बन्द हो जाए वह मृत । आदमी जब मरने को होता है तब उसकी नाक पर रुई का फोहा लगाते हैं, यह पता लगाने के लिए कि वह जी रहा है या नहीं जी रहा है । यदि रुई का फोहा हिलता है तो श्वास चल रहा है, आदमी जी रहा है । यदि वह नहीं हिलता है तो मान लिया जाता है कि वह मर गया । यह बहुत पुरानी बात हो गई । जीवन की नई परिभाषा यह है—श्वास चाहे चले या न चले, हृदय की धड़कन हो या न हो, उसकी आभा का वर्तुल टूट गया तो आदमी मर गया । बहुत बार ऐसा होता है कि हृदय की धड़कन रुक जाने के कुछ दिनों बाद भी आदमी फिर जी उठता है । बहुत लोग श्मशान-यात्रा कर फिर घर लौट आते हैं । हृदय की धड़कन बन्द हो गई श्वास की गति बन्द हो गई, किन्तु आभा का वर्तुल नहीं टूटा तो वे फिर जी उठे और चिता से उठकर घर आ गए । यह आभा-वल्लय तैजस शरीर का एक प्रतिबिम्ब है । यह जीवन का सूत्रधार है । यह सम्पूर्ण स्थूल शरीर के भीतर और बाहर—दोनों ओर व्याप्त है ।

तैजस शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर और है। उसका नाम है—कर्म शरीर। दृश्य शरीर आहार के परमाणुओं, तैजस शरीर विद्युत् परमाणुओं और कर्म शरीर वासना, संस्कार और संवेदना सूक्ष्मतरंग परमाणुओं से निर्मित होता है। कर्म शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह सब शरीरों का मूल कारण है। इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं। इनके न होने पर कोई शरीर नहीं होता। स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर से है। तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कर्म शरीर से है और कर्म शरीर का सीधा सम्पर्क चेतना से है। कर्म शरीर चैतन्य पर आवरण डालता है। इसलिए चेतना सर्वात्मना बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं कर पाती। आवरण के दो बिन्दु विरल होते हैं, उनमें से ज्ञाककर कुछ चैतन्य-रश्मियां बाह्य जगत् को जान पाती हैं। कर्म शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित बाह्य जगत् के प्रभावों को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावों को बाह्य जगत् तक पहुंचाता है। इसके चार मुख्य केन्द्र हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. ज्ञान-केन्द्र।
२. सत्य-केन्द्र।
३. आनन्द-केन्द्र।
४. शक्ति-केन्द्र।

इसके चार गौण केन्द्र इस प्रकार हैं—

१. संवेदन-केन्द्र।
२. निर्माण-केन्द्र।
३. उपलब्धि-केन्द्र।
४. जीवन-केन्द्र।

ज्ञान-केन्द्र—इन्द्रियां ज्ञान-केन्द्र हैं। उनके संस्थान स्थूल शरीर में निर्मित होते हैं। पर ज्ञान का मूल स्रोत स्थूल शरीर नहीं है। ये संस्थान एक प्रकार से अभिव्यक्ति केन्द्र हैं। ज्ञान की धारा कर्म-शरीर के माध्यम से उनमें संक्रांत होती है। स्थूल शरीर में जितने भी ज्ञान-केन्द्र हैं वे सब कर्म-शरीर द्वारा संप्रेषित ज्ञान-धारा के संवाहक हैं। कर्म शरीर के जितने द्वार खुलते हैं उतने ही ज्ञान-केन्द्र स्थूल शरीर में निर्मित होते हैं। आनन्द, शक्ति और संवेदन के केन्द्र भी कर्म-शरीर में होते हैं। उनका प्रतिबिम्ब स्थूल शरीर में होता है। सुख-दुःख का अनुभव भी कर्म-शरीर को होता है। घटना स्थूल शरीर में घटित होती है। उसका संवेदन कर्म-शरीर में होता है। मादक वस्तुओं का प्रयोग करने पर स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सम्बन्ध विच्छिन्न

हो जाता है। उस दशा में स्थूल शरीर को सर्दी-गर्मी या पीड़ा का कोई संवेदन नहीं होता। रोग भी कर्म-शरीर में उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर में व्यक्त। वासना कर्म-शरीर में उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल शरीर में। कर्म-शरीर और स्थूल—दोनों का सम्बन्ध हमारी विभिन्न अवस्थाओं का निर्माण करता है। हम समस्या और समाधान शरीर में खोजते हैं, जबकि उन दोनों का मूल कर्म-शरीर में होता है। कर्म-शरीर हमारे चिन्तन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकंपित होता है। प्रकम्पन-काल में वह नए परमाणु को ग्रहण (बंध) और पूर्व-गृहीत परमाणुओं का परित्याग (निर्जरा) करता है। चिन्तन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति—ये पवित्र होते हैं तब कर्म-शरीर के परमाणु अधिक मात्रा में परित्यक्त होते हैं और उसके आवारक और अवरोधक पटल विरल हो जाते हैं। उसका प्रभाव स्थूल शरीर के ज्ञान-केन्द्रों पर भी होता है। उसके ज्ञान-केन्द्र (या चक्र) विकसित हो जाते हैं। आवारक पटल के विरल और ज्ञान-केन्द्रों के विकसित होने पर चेतना की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। स्थूल शरीर के ज्ञान-केन्द्रों का विकास करने से चेतना की कार्य-क्षमता नहीं बढ़ती। उसकी कार्य-क्षमता को प्रकंपित करने और उसके आवारक पटल को अधिक विरल करने से बढ़ती है। हम किसी ज्ञान-केन्द्र पर मन को एकाग्र कर ध्यान करते हैं, उससे केवल स्थूल शरीर का ज्ञान-केन्द्र ही विकसित नहीं होता किन्तु कर्म-शरीर का ज्ञान-केन्द्र भी विकसित होता है। इन केन्द्रों के विकास का उपाय केवल ध्यान ही नहीं है। इनका विकास ध्यान से भी होता है, तपस्या से भी होता है, भावना से भी होता है और वीतराग आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने से भी होता है। हठयोग की साधना-पद्धति में स्थूल शरीर के चक्रों को जागृत करने पर अधिक बल दिया गया है। जैन साधना-पद्धति कर्म-शरीर को विरल करने पर आधारित है। इसलिए इसमें हठयोग की अपेक्षा राजयोग के तत्त्व अधिक विकसित हुए हैं। भगवान् महावीर का साधना-सूत्र है—कर्म-शरीर को प्रकंपित करो। हठयोग का प्रभाव प्राणशक्ति पर अधिक होता है। हठयोगी में प्राणशक्ति का चमत्कार होता है, पर चेतना की निर्मलता—क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता नहीं होती। कर्म-शरीर का मूल बीज क्रोध, मान, माया और लोभ है। जैन साधना-पद्धति का आदि बिन्दु और अन्तिम बिन्दु इस कषाय-चतुष्टयी का उन्मूलन है। इसका उन्मूलन करने वाला वीतराग होता है। उसमें प्राण-शक्ति का चमत्कार नहीं हो सकता किन्तु उसकी चेतना निर्मल और पवित्र हो जाती है। उसमें ज्ञान-केन्द्रों के माध्यमों का सहारा लिए बिना सर्वात्मना बाह्य जगत् को जानने की क्षमता विकसित हो जाती

है। ज्ञान अनावृत, आनन्द अबाधित और शक्ति अप्रतिहत हो जाती है।

तैजस शरीर (प्राण शरीर या प्राणशक्ति) भी तपस्या से विकसित होता है। किन्तु तपस्या का मुख्य कार्यक्रम शरीर को प्रकंपित करना है। अनशन, ऊनोदरी (आहार की अल्पता), वृत्ति-संक्षेप (आहार-विषयक संकल्प), रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता (इन्द्रिय-संयम या प्रत्याहार)—तपस्या के ये छह प्रकार स्थूल शरीर के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकंपित करते हैं, इसलिए भगवान् महावीर ने उन्हें बाह्य तप (बहिरंग योग) कहा है।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कषाय-त्याग और कायोत्सर्ग)—तपस्या के ये छह प्रकार मन के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकंपित करते हैं, इसलिए भगवान् महावीर ने उन्हें आन्तरिक तप (अन्तरंग योग) कहा है।

स्थूल शरीर के माध्यम से होने वाले कर्म-शरीर के प्रकंपनों की अपेक्षा मन के माध्यम से होने वाले प्रकंपन अधिक शक्तिशाली होते हैं। उनकी चोट भीतरी और गहरी होती है। इसीलिए उनके द्वारा कर्म-शरीर के परमाणुओं का अधिक मात्रा में विकिरण होता है।

४. प्राणवायु

शरीर में कम्पन होता है। फेफड़ा रक्त का शोधन करता है। हृदय उसको फेंकता है। वहां से उसका समूचे शरीर में अभिसरण होता है। धमनियों में अशुद्ध रक्त जाएगा तो विकृति पैदा करेगा। उससे शरीर में मंदता, शिथिलता और आलस्य पैदा होगा। शुद्ध रक्त जाएगा तो शरीर की क्षमता बढ़ेगी। काम करने की शक्ति बढ़ेगी। हृदय का काम रक्त को फेंकने का है। उसकी सफाई करने का नहीं है। सफाई करने का काम फेफड़े का है। रक्त शरीर में घूमा। उसमें बहुत सारी विकृतियां मिल गईं। फुफ्फुस यंत्र ने उसके विषों को अलग कर उसे निर्दोष बना दिया। यह रक्त की सफाई प्राणवायु के द्वारा होती है। फुफ्फुस प्राणवायु के द्वारा रक्त को छानता है। उसमें जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड जमा होता है उसे निकाल देता है। फेफड़े में पहुंचते-पहुंचते खून का रंग नीला हो जाता है। सफाई होने पर उसकी रक्तिमा प्रकट हो जाती है। फेफड़े को प्राणवायु पूरा मिलता है तो रक्त पूरा शुद्ध हो जाता है। प्राणवायु पूरा नहीं मिलता तब तक रक्त पूरा शुद्ध नहीं होता। हम प्राणवायु को पूरा लेना नहीं जानते। पूरा श्वास लेना नहीं जानते। हम श्वास लेना नहीं जानते, यह कहना अटपटी-सी बात लगती है। हम गूढ़ सत्य को नहीं जानते। यह बात समझ में आ सकती है किन्तु श्वास जैसी साधारण बात के लिए यह कहा जाए कि 'हम श्वास

लेना नहीं जानते', तो ऐसा लगता है कि या तो कहने वाले का कोई अहं है या वह दूसरे के अहं पर चोट कर रहा है।

श्वास हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। बच्चा श्वास लेना शुरू कर देता है। यह स्व-संचालित नाड़ी-तंत्र की क्रिया है। इसके लिए प्रशिक्षण लेना आवश्यक नहीं है। हर आदमी श्वास लेता है, फिर वह पढ़ा लिखा हो या अनपढ़। साधारणतया हम एक मिनट में पन्द्रह-बीस श्वास लेते हैं। हर आदमी एक दिन-रात में इक्कीस हजार से कुछ अधिक श्वास लेता है। यदि गहरा श्वास लें तो इस संख्या में काफी परिवर्तन आ सकता है। श्वास का प्राणशक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो कम श्वास लेता है उसका जीवन लम्बा होता है। जो अधिक श्वास लेता है उसका जीवन शीघ्र समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिक शोधों का निष्कर्ष है कि जो एक मिनट में चार पांच श्वास लेते हैं वे एक सौ पचास या दो सौ वर्ष जीते हैं। जो एक मिनट में दस-बारह श्वास लेते हैं वे सौ या एक सौ पचीस वर्ष जीते हैं। जो एक मिनट में पन्द्रह-सोलह श्वास लेते हैं वे सत्तर या अस्सी वर्ष जीते हैं। श्वास जितना दीर्घ होगा उतना ही प्राणवायु भीतर जायेगा। फेफड़े के रक्त की शुद्धि के लिए उतना ही अधिक ईंधन मिलेगा। यदि एक मिनट में एक या दो श्वास लिया जा सके तो फुफ्फुस यंत्र के सात करोड़ कोषों (Cells) की पूरी सफाई हो जाती है। योग-विद्या ने सर्वप्रथम मनुष्य का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि हमारा श्वास दीर्घ और गहरा होना चाहिये। दीर्घ श्वास से रक्तशुद्धि ही नहीं होती है, मन भी शान्त होता है। जनसाधारण का प्रश्न है कि मन कहीं टिकता नहीं है उसे कैसे टिकाएँ? जैसे ही एक बिन्दु पर मन टिकाने का प्रयत्न करते हैं मन दौड़ने लग जाता है। मन को रोकना निषेध का सिद्धान्त है। जिसका निषेध किया जाता है उसका आकर्षण बढ़ जाता है। आप बच्चे से कहें, तुम्हें बाहर नहीं जाना है तब वह बाहर जरूर जाना चाहेगा। रत्नादेवी ने जिनरक्षित और जिनपाल से कहा—'मैं कार्यवश बाहर जा रही हूँ। अकेले तुम्हारा मन न लगे तो तुम घूमने के लिए बाहर चले जाना। पूर्व में रमणीय उद्यान है। सब ऋतुओं के फूल, सुरभिमय पवन, मोहक वातावरण—सब कुछ उपलब्ध है। वहाँ सुख से समय बिताना। यदि तुम चाहो तो पश्चिम और उत्तर के उद्यानों में चले जाना। वे भी बहुत रमणीय हैं। किन्तु एक बात का ध्यान रखना। दक्षिण के उद्यान में मत जाना। वहाँ जाओगे तो संकट में पड़ जाओगे। वह अत्यन्त खतरनाक है।' देवी चली गई। जिनरक्षित और जिनपाल के मन में पूर्व, पश्चिम और उत्तर के उद्यानों में जाने का कोई आकर्षण नहीं बना। फिर भी वे देवी के निर्देशानुसार

पूर्व के उद्यान में गये। फिर वे पश्चिम और उत्तर के उद्यान में गए। उनका मन दक्षिण के उद्यान में जाने के लिए छटपटा रहा था। मन में आया—वहां जाना बड़ा खतरनाक है। फिर सोचा देखें तो सही क्या खतरा है? देखे बिना कैसे पता चलेगा? वे घूमते रहे और साथ-साथ मन भी घूमता रहा। वे घूमते हैं पूर्व के उद्यान में और उनका मन घूमता है दक्षिण के उद्यान में। वे घूमते हैं पश्चिम के उद्यान में और उनका मन दौड़ रहा है दक्षिण के उद्यान में। वे घूमते हैं उत्तर के उद्यान में और उनका मन दौड़ रहा है दक्षिण के उद्यान में। यह बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निषेध करने का अर्थ है—आकर्षण पैदा करना।

जब-जब हम मन को रोकने की बात सोचते हैं तब-तब उसके दौड़ने की बात सोचते हैं। हम नहीं चाहते कि वह दौड़े, किन्तु जब रोकना चाहते हैं तब उसकी दौड़ कैसे बन्द हो? हम जिन स्थानों में उसे नहीं जाने देना चाहते वहां वह जरूर जाना चाहेगा। एक साधक ध्यान का अभ्यास कर रहा था। गुरु उसे ध्यान का अभ्यास करा रहे थे। एक दिन गुरु ने कहा—‘तुम एकान्त में जाकर ध्यान करो। पूर्ण एकाग्रता से ध्यान करो। पर एक बात का ध्यान रखना, तुम्हारा अभ्यास तभी सफल होगा जब तुम बन्दर को याद नहीं करोगे। यदि तुम बन्दर को याद करोगे तो तुम्हारा अभ्यास-क्रम टूट जायेगा।’ वह गुरु को प्रणाम कर एकान्त में गया। ध्यान करने बैठा। उसे और कोई स्मृति नहीं आई। उसका मन बन्दर की स्मृति में उलझ गया। गुरु ने उसके मन में एक जहरीला कीटाणु छोड़ दिया। वह बेचारा बार-बार उसे भूलने का प्रयत्न करता है। किन्तु जब-जब वह उसे भूलने का प्रयत्न करता है, तब-तब बन्दर उसकी आंखों के सामने आ जाता है। वह निषेध की पकड़ में आ गया। उसका अभ्यास सफल नहीं हो सका। गुरु ने दूसरे दिन कहा—‘तुम एकान्त में चले जाओ। एक घंटे का समय है दोनों नथुनों के नीचे आते-जाते प्राणवायु को देखते रहो।’ साधक ने वैसा ही किया। दस मिनट बीते होंगे कि मन शान्त हो गया। स्मृति, चिन्तन और कल्पना—सबके दरवाजे बन्द हो गए। आधा घंटा बीता कि देश-काल का भान भी समाप्त हो गया। वह समाधि में कई घंटों तक बैठा रहा। तीन घंटे बाद उसकी समाधि टूटी। गुरु ने नहीं कहा कि मन को रोकना है। शिष्य ने भी नहीं सोचा कि मन को रोकना है। किन्तु मन रुक गया। वह रुकता है, उसे रोका नहीं जा सकता। हम श्वास को मन्द करें, मन अपने आप रुक जाएगा। हम श्वास को देखें, वह अपने आप शान्त हो जाएगा। हम चंचलता के प्रवाह को रोक देते हैं तब चंचलता अपने आप रुक जाती है। जलाशय में पानी है तब लहर उठती

है। उसमें पानी ही नहीं रहा, फिर लहर कैसे उठेगी? मन की चंचलता का प्रवाह है प्राणवायु। उसका धक्का लगता है। तब चंचलता पैदा होती है। प्राणवायु को शान्त कर दिया तब मन चंचल कैसे होगा? आवेग प्राणवायु की चंचलता के द्वारा होते हैं। प्राणवायु शान्त है तो हम क्रोध करना चाहें, तो भी नहीं कर पायेंगे। क्रोध करने के लिए जरूरी है कि पहले श्वास तेज हो। श्वास तेज होगा तब हम क्रोध करेंगे। या क्रोध करेंगे तब हमारा श्वास तेज होगा। शान्त श्वास में हम क्रोध नहीं कर सकते। शान्त श्वास में हमारे मन में वासना जागृत नहीं हो सकती। शांत श्वास में हमारे मन में कोई आवेश नहीं हो सकता। ये सारे आवेश तीव्र श्वास में होते हैं। यौगिक निष्कर्षों के अनुसार क्रोध की स्थिति में एक मिनट में तीस-चालीस श्वास हो जाते हैं। संभोग की स्थिति में वे साठ तक चले जाते हैं। इसलिए संभोग के द्वारा अधिक शक्ति क्षीण होती है। भय लगता है तो हृदय की धड़कन और श्वास की गति बढ़ जाती है। भय का आवेश शान्त होता है तो श्वास की गति मन्द हो जाती है। शान्त समुद्र, तूफानी समुद्र और जमा हुआ समुद्र—समुद्र के ये तीन रूप हैं। शांत समुद्र में नौका को खतरा नहीं होता। तूफानी समुद्र में वह डगमगाने लग जाती है। उत्तरी समुद्र जमे पड़े हैं। उस पर आदमी चला जाता है। कोई खतरा नहीं है। हमारे मन की भी तीन अवस्थाएं होती हैं—शान्त मन, तूफानी मन और सघन मन। प्राणवायु लम्बा होता है, पूरा होता है, दूषित द्रव्य (Carbon) को पूरी मात्रा में बाहर निकालता है, तब मन शान्त रहता है। प्राणवायु की दीर्घता कम होती है, दूषित द्रव्य पूरी मात्रा में बाहर नहीं निकलता तब मन तूफानी बन जाता है। प्राणवायु मन्द होते-होते स्थिर हो जाता है तब मन सघन हो जाता है। समाधि अपने आप उतर आती है।

५. प्राण

प्राण और प्राणवायु एक नहीं है। प्राणवायु से लिया जाने वाला पौद्रलिक द्रव्य है। उसे हम लेते हैं और छोड़ते हैं। फिर लेते हैं और फिर छोड़ते हैं। यह क्रम चलता रहता है। प्राण हमारी जीवनी-शक्ति है। वह समूचे शरीर में प्रवाहित है। प्राण है तब तक जीवन है। प्राण समाप्त होता है, जीवन समाप्त हो जाता है। जैन धर्म में प्राण-वियोजन को हिंसा माना है।

प्राण तैजस शरीर का विद्युत-प्रवाह है। चिन्तन का यंत्र मस्तिष्क है किन्तु उसमें प्राण शक्ति का प्रवाह न हो तो कोई भी मनुष्य चिन्तन नहीं कर सकता। बोलने का माध्यम स्वर-यंत्र है। किन्तु उसमें प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो कोई भी मनुष्य

बोल नहीं सकता। नाड़ी-संस्थान में क्रिया की क्षमता है। किन्तु उसमें प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो वह कार्य नहीं कर सकता। आंख देखती है, कान सुनते हैं। सब इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं। किन्तु उनमें यदि प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो इन्द्रियां कुछ भी नहीं जान सकती।

एक ही प्राणधारा अनेक तंत्रों में प्रवाहित होने के कारण अनेक नामों से अभिहित होती है। मन में प्राण का प्रवाह होता है तब हम चिंतन करते हैं। यह है 'मन प्राण'। वाणी में प्राण का प्रवाह होता है तब हम बोलते हैं। यह है 'वचन प्राण'। शरीर में प्राण का प्रवाह होता है तब हम क्रिया करते हैं। यह है 'शरीर-प्राण'। श्वास-संस्थान में प्राण का प्रवाह होता है, तब हम श्वास लेते हैं। यह है 'श्वास प्राण'। आहार-संस्थान में प्राण का प्रवाह होता है तब हम जीवन धारण करते हैं। यह है 'आयुष्य प्राण'। इन्द्रियों में प्राण का प्रवाह होता है तब हम देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं और स्पर्श-बोध करते हैं। यह है 'इन्द्रिय प्राण'।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में लीन होता है, उसकी प्राण-शक्ति विकसित हो जाती है। कोई साधक केवल प्राण का प्रयोग करता है, उसकी भी प्राण-शक्ति विकसित हो जाती है। प्राणायाम उसके विकास का बहुत बड़ा साधन है। प्राण-शक्ति का विकास बहुत आवश्यक है। जिसकी प्राण-शक्ति विकसित होती है वह आन्तरिक खोज में बहुत आगे बढ़ सकता है।

६. प्राणायाम

प्राणवायु को लेना (पूरक), छोड़ना (रेचक), उसे भीतर और बाहर रोकना (कुम्भक)—इन तीन क्रियाओं का नाम प्राणायाम है। प्राणवायु के प्रयोगों से प्राणशक्ति की अग्नि प्रज्वलित होती है, इसलिए प्राणायाम का मूल्य है। प्राणवायु का ईंधन जितना अधिक मात्रा में मिलता है उतना ही प्राण-मिश्रित चैतन्य विकसित होता है। जैन साधकों ने तीव्र प्राणायाम को अस्वीकार किया है। उन्होंने श्वास को मन्द, सूक्ष्म या दीर्घ करने को उपयोगी माना है। विकास का रहस्य है प्राणधारा को नाड़ी-संस्थान में प्रवाहित करना। प्राणवायु फेफड़ों के नीचे (तनुपट (Diaform) तक हो जाता है। वह समूचे शरीर में नहीं जाता। प्राण, अपान, ऊदान, व्यान और समान—इनका शरीरगत जो प्रवाह है, वह प्राणवायु नहीं किन्तु प्राणधारा है। इस पर ध्यान केन्द्रित करना और इसे उत्क्रान्ति की दृष्टि से विभिन्न नाड़ी-चक्रों में प्रवाहित करना साधन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

सत्य की खोज : विसंवादिता का अवरोध

सत्य शाश्वत है। सत्यदर्शी उसका प्रवर्तन नहीं करता, व्याख्या करता है। भगवान् महावीर सत्य के प्रवर्तक नहीं किन्तु व्याख्याता थे। उन्होंने दीर्घ तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया और भाषा की सीमा में उसे अनावृत किया। उन्होंने देखा, सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, उसकी समग्रता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। प्रतिपादन सत्यांश का ही किया जा सकता है। ज्ञान अपने लिए होता है और प्रतिपादन दूसरों के लिए। ज्ञान अपने-आप में प्रत्यक्ष होता है। ज्ञेय को जानते समय वह प्रत्यक्ष भी होता है और परोक्ष भी होता है। वह अपने-आप में न प्रमाण होता है और न अप्रमाण। ज्ञेय को जानते समय वह प्रमाण भी होता है और अप्रमाण भी होता है। संशयित और विपर्यस्त ज्ञान अप्रमाण होता है। निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता, स्वार्थ और परार्थ, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रामाण्य और अप्रामाण्य—ज्ञान के इन विविध रूपों ने सत्य को विविध रूपों में विभक्त कर दिया। सत्य सत्य ही है। वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नहीं होता। फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हूँ दूसरा उसे असत्य मानता है। दूसरा जिसे सत्य मानता है मैं उसे असत्य मानता हूँ। सत्य का यह विवादास्पद रूप मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। महावीर और बुद्ध भारत में हुए, लाओत्से और कन्फ्यूशियस चीन में। देश भिन्न हैं किन्तु काल भिन्न नहीं है। चारों सम-सामयिक हैं।

व्यक्ति देशकाल से अविच्छिन्न हो सकता है किन्तु सत्य देशकाल से अविच्छिन्न नहीं होता। वह हर देश और हर काल में एक रूप ही होता है। किन्तु महावीर को पढ़ने वाला एक प्रकार के सत्य को पकड़ रहा है। बुद्ध को पढ़ने वाला दूसरे प्रकार के सत्य को पकड़ रहा है। लाओत्से को पढ़ने वाला तीसरे प्रकार के और कन्फ्यूशियस को पढ़ने वाला चौथे प्रकार के सत्य को पकड़ रहा है। सत्य एकरूप, प्रतिपादन अनेक रूप और पकड़ उससे बहुत दूर। यह स्थिति एक सत्य-शोधक के मन में यह प्रश्न पैदा करती है—क्या सत्य वास्तविक है या मृगमरीचिका? यदि वास्तविक

है तो प्रतिपादन का भेद क्यों? यदि मृगमरीचिका है तो उसके लिए इतना प्रयत्न क्यों? इस प्रश्न ने बहुत लोगों को असत्य की दिशा में ढकेल दिया जिनके चरण सत्य की दिशा में बढ़ने को तत्पर थे। महावीर ने इस प्रश्न को गम्भीरता से देखा। सत्य की दिशा में बढ़ने वाले पैरों को लड़खड़ाते हुए देखा और देखा कि सत्यांश सत्य पर आवरण डाल रहा है, असत्य को उजागर कर रहा है। उन्होंने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकान्त की स्थापना की और यह घोषणा की कि जो प्रतिपादन किया जाता है वह सत्य नहीं है, सत्यांश है। सत्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। प्रतिपादन सत्यांश का ही किया जा सकता है। मैंने सत्य का साक्षात् किया है, किन्तु मैं उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता। दूसरा कोई सत्य का साक्षात् कर सकता है किन्तु उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता। वह अवक्तव्य सत्यांश ही हो सकता है। मैं एक सत्यांश का प्रतिपादन करता हूँ, दूसरा दूसरे सत्यांश का प्रतिपादन करता है। दोनों के सत्यांश भिन्न हो सकते हैं और होते हैं। यह सत्य का भेद नहीं। यह सत्य का विभाजन नहीं। वह अपेक्षा-भेद से प्रतिपादन सत्यांश का भेद है। मैं किसी एक सत्यांश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता हूँ तो दूसरा किसी दूसरे सत्यांश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता है। यह वाणी की क्षमता का भेद है।

शब्द में इतनी ही क्षमता है कि वह एक क्षण में सत्य के अनन्त पर्यायों (अंशों) में से एक ही पर्याय का प्रतिपादन करता है और समूची भाषा सत्य के कुछेक पर्यायों का प्रतिपादन कर सकती है। किसी भी भाषा ने सत्य के हजारों पर्यायों से अधिक पर्यायों को अभिव्यक्ति नहीं दी है और भविष्य में भी नहीं दे पाएगी। कोई भी मनुष्य अपने जीवन में सत्य के हजारों पर्यायों से अधिक पर्यायों को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता। फिर इस तर्क का क्या अर्थ है कि यह सर्वज्ञ का वचन है। यह सत्य के साक्षात् द्रष्टा का वचन है। क्या सर्वज्ञ या सत्य का साक्षात् द्रष्टा सम्पूर्ण सत्य को कह सकता है? यदि कह सके तो सत्य अनन्त नहीं हो सकता, शाश्वत नहीं हो सकता। और यदि नहीं कह सके तो वह सत्यांश ही कह सकेगा। सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर हम सत्य की खोज के द्वार को बन्द नहीं कर सकते। अनेकान्त के सिद्धांत ने सत्य की खोज के द्वार को सदा के लिए, सबके लिए खोल दिया। उसका प्रतिपाद्य है—सत्य की खोज मैं भी कर सकता हूँ, तुम भी कर सकते हो। उसका साक्षात्कार भी हम सब कर सकते हैं। हमारे पूर्वजों ने सत्य की खोज की, उसका साक्षात् किया और प्रतिपादन भी। सत्य की खोज और साक्षात्कार उनका अपना विषय है और प्रतिपादन हमारे लिए है। हम उनके प्रतिपादन को ही मानकर चलें,

सत्यांश के द्वारा ही सत्य को समझने का प्रयत्न करें, इससे बड़ा असत्य कोई नहीं हो सकता। सत्यांश के द्वारा सत्य को नहीं समझा जा सकता। उसके द्वारा सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है किन्तु सत्य को अपनी साधना के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है।

अनेकांत ने उस साधना का पथ प्रस्तुत किया है। वह है ऋजुता, अनाग्रह। महावीर ने कहा—सत्य उसे उपलब्ध होता जो ऋजु है। वह जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करता है; यथार्थ को अपने पूर्वाग्रह के सांचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करता; वस्तु-सत्य के दर्पण को अपनी रुचि और संस्कार के फ्रेम में मढ़ने का प्रयत्न नहीं करता; वस्तु-सत्य के विरोधी विसंगत प्रतीत होने वाले पर्यायों में अपने तर्क बल से सामंजस्य और संगति स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करता। यह ऋजुता की साधना झुकाव-शून्यता की साधना है। विचार-शून्यता की साधना है। ऋजु व्यक्ति न महावीर के प्रति झुकाव रखता है और न किसी दूसरे के प्रति। उसका मन और मस्तिष्क खाली होता है, शून्य होता है। महावीर ने कहा वह सत्य है और लाओत्से ने कहा वह असत्य है, ऐसा भाव उसमें नहीं होता। वह महावीर के सत्यांश को महावीर के देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियों के संदर्भ में समझने का प्रयत्न करता है। लाओत्से के सत्य को उनके देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियों के संदर्भ में समझने का प्रयत्न करता है और सत्य की उपलब्धि के लिए अपनी साधना को आगे बढ़ाता है।

सत्य की खोज के मार्ग में जितने प्रश्न, जितनी समस्याएं और जितनी उलझनें हैं वे सब एकांतवादी लोगों ने उत्पन्न की हैं। एक एकांतवादी व्यक्ति 'क' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'ख' के सत्यांश को असत्यांश बतलाता है तो दूसरा व्यक्ति 'ख' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'क' के सत्यांश को असत्यांश बतलाता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के सत्यांश को असत्यांश बतलाकर सत्य की खोज में प्रश्न पैदा करते हैं। वे यथार्थ को यथार्थ रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे वचन-प्रामाण्य या शास्त्र-प्रामाण्य से ही सत्य को उपलब्ध करना चाहते हैं। उसके लिए ऋजुता या विचार-शून्यता की साधना करना नहीं चाहते। ऐसे ही लोगों ने सत्यांशों में विरोधाभास दिखाकर सत्य की अनेकरूपता और सत्यदर्शी तपस्वियों की परस्पर विसंवादिता के प्रश्न को उजागर किया है।

प्रत्ययवाद और वस्तुवाद

हमारे सामने दो जगत् हैं—परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व । प्रत्ययवादी (या आदर्शवादी) दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक नहीं मानते । उनके मतानुसार चेतना से बाहर कुछ नहीं है । भारतीय दार्शनिकों में इस सिद्धांत का प्रतिपादन वेदान्त ने किया । पश्चिमी दार्शनिकों में इस सिद्धांत के प्रतिपादक कान्ट, फिक्ट, शेलिंग, हेगेल, ग्रीन, जेम्स वार्ड आदि दार्शनिक हैं ।

वस्तुवादी दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं । उनके मतानुसार अपर अस्तित्व चेतना-निरपेक्ष है, स्वतंत्र है । भारतीय दार्शनिकों में सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया । पश्चिमी दार्शनिकों में रीड, हैमिल्टन, बर्टेण्ड रसल आदि दार्शनिक इसके प्रतिपादक हैं ।

जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनों सत्यांशों की सापेक्ष व्याख्या की है । उस व्याख्या का पहला सूत्र प्रत्ययवादी धारणा में संशोधन प्रस्तुत करता है । चेतना से बाहर कुछ नहीं है, इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक संगत हो सकता है कि अस्तित्व से बाहर कुछ नहीं है । अस्तित्व को एक इकाई बनाया जा सकता है, किन्तु चेतना को एक इकाई नहीं बनाया जा सकता । अस्तित्व में चेतन और अचेतन—दोनों का समाहार हो सकता है, किन्तु चेतन में अचेतन का समाहार नहीं हो सकता । चेतन और अचेतन यह दो की स्वीकृति प्रत्ययवाद को वस्तुवाद में बदल देती है । अचेतन को चेतना का प्रतिबिम्ब मानने में अनेक जटिलताएं उत्पन्न होती हैं । अस्तित्व की एकता में कोई जटिलता नहीं है । चेतना विभाजक गुण है । वह चेतन को अचेतन से पृथक् करती है । 'सामान्य' संयोजक गुण है । वह सब द्रव्यों में समानरूप से व्याप्त रहता है । इसलिए वह एकता का अन्तिम बिन्दु है । उस पर पूर्ण अद्वैत का सिद्धांत फलित होता है । अतः प्रत्ययवादी दृष्टिकोण भी सत्यांश है ।

'है' (सत्) परम अस्तित्व है । 'अमुक है'—यह अपर अस्तित्व है । परम अस्तित्व में कोई विभाजन नहीं है, न द्रव्य और न पर्याय । अपर अस्तित्व में विभाजन होता है । उसकी सीमा में द्रव्य है और उसके अनेक प्रकार हैं । पर्याय हैं और वे अनन्त

हैं। द्रव्य में दो प्रकार के गुण समन्वित होते हैं—सामान्य और विशेष। ये एक-दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते। सामान्यशून्य विशेष और विशेषशून्य सामान्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। सामान्य गुण द्रव्य के अस्तित्व को बनाए रखता है किन्तु उसकी विशेषता का अपहरण नहीं करता। विशेष गुण द्रव्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखता है किन्तु उसके अस्तित्व में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं करता।

जब हम सामान्य दर्शन की धारा में होते हैं तब परम अस्तित्व को देखते हैं और जब हम विशेष दर्शन की धारा में होते हैं तब हम अपर अस्तित्व को देखते हैं। यह परम अस्तित्व और परम अस्तित्व का विभाजन नहीं किन्तु हमारे दर्शन का विभाजन है। हम एक साथ दोनों को नहीं देख सकते इसलिए जगत् को कभी सामान्य के कोण से देखते हैं और कभी विशेष के कोण से। सामान्य के कोण से देखने पर परम अस्तित्व का सत्यांश उपलब्ध होता है और विशेष के कोण से देखने पर अपर अस्तित्व का सत्यांश उपलब्ध होता है। इस सापेक्ष व्याख्या में न प्रत्ययवाद वस्तुवाद का विरोधी है और न वस्तुवाद प्रत्ययवाद का। प्रत्ययवाद का ध्येय है—केवल चैतन्य की वास्तविक सत्ता स्थापित करना और वस्तुवाद का ध्येय है—चैतन्य से वस्तु की स्वतन्त्रता स्थापित करना।

ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र है। यदि वह ज्ञाता से स्वतन्त्र न हो तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्ध दो में स्थापित होता है। एक में कोई सम्बन्ध नहीं होता। ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर नहीं है। ज्ञाता के जानने के क्षणों में वह निर्मित नहीं होता और ज्ञाता के न जानने के क्षणों में वह विलुप्त नहीं होता। प्रत्ययवादियों का तर्क है—ज्ञेय स्वतन्त्र हो तो उसका अनुभव सबको समान होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता। एक ही वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपों में जानते-देखते हैं। इस भेद का कारण हमारे मन में है। यह तर्क बहुत गम्भीर नहीं है। हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। इसलिए एक वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपों में जानते-देखते हैं। देश, काल, वातावरण, रुचि, पूर्व-मान्यता, झुकाव, मन की ग्रहणशक्ति का तारतम्य आदि मिलकर सापेक्षता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षदृष्टि से वस्तुवादियों का यह सत्यांश समर्थित होता है कि वस्तु की सत्ता हमारे मन में नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल की यह उक्ति महत्वपूर्ण है कि 'वृक्ष हमारे मन में नहीं है। वृक्ष का विचार मन में है, किन्तु वृक्ष नहीं।'

वस्तु की सत्ता मन से स्वतन्त्र होने पर ही उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है। एफ. सी. एस. शिलर ने प्रत्ययवादी होते हुए भी इसे स्वीकृति दी है।

उनका अभ्युपगम है कि जिस प्रकार वस्तु के लिए मन की आवश्यकता है उसी प्रकार मन को मनन करने के लिए वस्तु की आवश्यकता है। अनेकान्त दर्शन ने जात्यन्तर के सिद्धांत की स्थापना की। उसका तात्पर्य यह है कि भेद और अभेद जैसा स्वतन्त्र गुण कोई नहीं है। जहां भेद है वहां अभेद है और जहां अभेद है वहां भेद। भेदाभेद ही वास्तविक है। ज्ञाता ज्ञेय से सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि वह ज्ञेय से सर्वथा भिन्न हो तो उनमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि वह सर्वथा अभिन्न हो तो भी उनमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर नहीं है, इसलिए वे स्वतंत्र हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध परस्पराश्रित है, इसलिए परस्पराधीन हैं। शेलिंग^१ का यह तर्क—‘विषयों की सिद्धि पर उनकी ज्ञाता आत्मा की सिद्धि और ज्ञाता की सिद्धि पर उनके ज्ञेय विषयों की सिद्धि निर्भर है, अर्थपूर्ण नहीं है। मूल आधार अस्तित्व है। ज्ञाता और ज्ञेय एक सम्बन्ध है। अस्तित्व होने पर सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध से अस्तित्व नहीं होता। ‘होना’ और ‘सिद्ध होना’—दोनों एक बात नहीं हैं। परमाणु के सिद्ध होने से पूर्व वह नहीं था यह नहीं माना जा सकता। सिद्धि ज्ञान के विकास पर निर्भर है, किन्तु अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं है। उसकी निर्भरता अपने मौलिक गुणों पर है।

हम केवल पौद्गलिक वस्तु को ही नहीं जानते, चेतन द्रव्य को भी जानते हैं। ज्ञाता चेतन ही होता है, किन्तु उसे ज्ञेय चेतन और अचेतन—दोनों हो सकते हैं। जैसे पौद्गलिक वस्तु ज्ञान से स्वतंत्र है वैसे ही एक आत्मा से दूसरी आत्माएं स्वतंत्र हैं। आत्माएं अनेक हैं। इसलिए जो आत्मा दूसरों का ज्ञान करते समय ज्ञाता होती है वह दूसरी आत्मा के द्वारा ज्ञेय हो जाती है। पौद्गलिक वस्तु में केवल ज्ञेय धर्म होता है, किन्तु आत्मा में ज्ञाता और ज्ञेय—ये दोनों धर्म होते हैं। महान् दार्शनिक काण्ट का यह वाक्य—‘विचार को वस्तु नहीं बनाना चाहिए’ जितना सत्य है उतना ही यह सत्य है कि ‘वस्तु को विचार नहीं बनाना चाहिए।’ अनेकान्तवाद ने विचार और वस्तु—दोनों की सापेक्ष व्याख्या की है। परम अस्तित्व के जगत् में विचार और वस्तु का भेद नहीं है। अपर अस्तित्व के जगत् में विचार से वस्तु भिन्न है। प्रत्ययवादी शेलिंग ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा और अनात्मा एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। एक ही स्थिति दूसरे के बिना नहीं हो सकती।^१ इस स्वीकार

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, पृष्ठ १७४।

को अनेकान्तवाद का समर्थन मिलता है। उसके अनुसार जो सत् है वह अप्रतिपक्ष सहित होता है। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इस स्थिति में वस्तुवाद भी सत्यांश है। प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्यांश हो जाते हैं और परस्पर-सापेक्ष होकर सत्यांश बन जाते हैं। परम अस्तित्व की स्वीकृति के बिना वस्तु और उसके पारस्परिक सम्बन्धों के मूल आधार की व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तु की स्वतन्त्रता की स्वीकृति के बिना विशिष्ट गुणों की व्याख्या नहीं की जा सकती। इन दोनों की सामंजस्यपूर्ण व्याख्या परम अस्तित्व और वस्तु की स्वतन्त्रता की सापेक्ष स्वीकृति द्वारा ही की जा सकती है।

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, पृष्ठ १८१।



परिणामि नित्य

आंधी चल रही है। उसमें जितनी शक्ति आज है, उतनी ही कल होगी, यह नहीं कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नहीं है और जो आज है उसका आने वाले कल में होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया में एकरूपता के लिए कोई अवकाश नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद हैं, वे कभी काले रहे हैं। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले हैं। वे एकरूप नहीं रह सकते। केवल बाल ही क्या, दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नहीं रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणों पर गहराई से विचार किया है, अंतर्बंध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धांत की स्थापना की। उसका नाम है 'परिणामि-नित्यत्ववाद'।

इस सिद्धांत के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य नहीं है और कोई भी तत्त्व सर्वथा अनित्य नहीं है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणामन-शून्य नहीं होता और परिणामन ध्रुव-शून्य नहीं होता। इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप में उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों परिणामन के आधार बनते हैं और ध्रौव्य—उनका अन्वयी-सूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति में भी रहता है और व्यय की स्थिति में भी रहता है। वह दोनों को अपने साथ जोड़े हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार ही नहीं हो रहा है। और जो नष्ट हो रहा है, वह भी पहली बार ही नहीं हो रहा है। उससे पहले वह अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नहीं हुआ। ध्रौव्य उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नहीं होती। इस बिन्दु को पकड़ने वाले 'कूटस्थ नित्य' के

सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। अस्तित्व के समुद्र में होने वाली उर्मियों को पकड़ने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा में देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उसने पूछा—आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होंने एक ही उत्तर दिया—अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा में वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

तत्त्व में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्त्व की स्थिति के और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते हैं। सहभावी धर्म 'गुण' और क्रमभावी धर्म 'पर्याय' कहलाते हैं। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नहीं हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थनित्यवादियों से पूछा—पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? कोई बताये तो सही। उन्होंने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियों से पूछा कि वे बताएं तो सही कि द्रव्य-शून्य पर्याय किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? अवस्थाविहीन, अवस्थावान् और अवस्थान्विहीन अवस्थाएं में दोनों तथ्य घटित नहीं हो सकते। जो घटना-क्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थाई तत्त्व है। घटना-क्रम उसी में चल रहा है। वह उससे बाहर नहीं है। तालाब में एक कंकर फेंका और तरंगें उठीं। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शांत था, वह क्षुब्ध हो गया, तरंगित हो गया। तरंग जल में है। जल में भिन्न तरंग का कोई अस्तित्व नहीं है। जल में तरंग उठती है इसलिए हम कह सकते हैं कि तालाब तरंगित हो गया। तरंगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान में घटित होती है। जलाशय नहीं है तो जल नहीं है। जल नहीं है तो तरंग नहीं है। तरंग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरंग न हो—ऐसा भी नहीं हो सकता। जल का होना तरंग होने के साथ जुड़ा हुआ है। जल और तरंग—दोनों एक-दूसरे में निहित हैं—जल में तरंग और तरंग में जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य कहां देख पाते हैं। हम देखते हैं पर्याय को। हमारा जितना ज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नहीं जान सकता।

मैं उसके अनेक पर्यायों में से एक पर्याय को जानता हूँ और उसके माध्यम से यह जानता हूँ कि यह मनुष्य है। जब आंख से उसे देखता हूँ तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायों के आधार पर उसे मनुष्य कहता हूँ। कान से उसका शब्द सुनता हूँ, तब उसे शब्द-पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हूँ। उसकी समग्रता को मैं भी नहीं पकड़ पाता। आम को कभी मैं रूप-पर्याय से जानता हूँ, कभी गंध-पर्याय से और कभी रस-पर्याय से। किन्तु सब पर्यायों से एक साथ जानने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। आंख जब रूप को देखती है तो गंध और रस आदि पर्याय नीचे चले जाते हैं। गंध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सन्दर्भ में मैं कहता हूँ कि मैं द्रव्य को नहीं देखता हूँ, केवल पर्यायों को देखता हूँ और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हूँ।

हमारा पर्याय का जगत् बहुत लम्बा-चौड़ा है और द्रव्य का जगत् बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के वलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के पटल में छिपा हुआ है। उसका बोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए सम्भव नहीं है।

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आन्तरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी बात नहीं है। परिणमन का क्रम निरन्तर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है। वह परिणमन का आन्तरिक हेतु है इसलिए प्रत्येक अस्तित्व में व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमनशील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता, इसलिए अस्तित्व में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नहीं की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तों से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते हैं और उसके कार्य-कारण की व्याख्या करते हैं। कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बीमारी नहीं, चोट नहीं, आघात नहीं और कोई मारने वाला भी नहीं, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवर्तन है। जीवन में उसकी आन्तरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म के पहले क्षण में ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण में नहीं मरता, वह फिर कभी नहीं मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए फिर उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। बाहरी

निमित्त से होने वाली मौत की व्याख्या बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा में होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते हैं। किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सृजन, विकास या प्रलय—जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से घटित होता है। काल दोनों का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओं में बाहरी निमित्त भी अपना योग देते हैं। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व में स्वयं सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनों स्तर पर होता है। पानी में चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश में बादल मंडराए और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कंध मिले और बादल बन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व में ही होते हैं। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते हैं, वे सब वैयक्तिक होते हैं, पांच अस्तिकाय (अस्तित्व) हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इनका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है। किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सब इन दो द्रव्यों के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवों ने अपने शरीर के रूप में रूपायित किया है। इसे इन शब्दों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह या तो जीवच्छरीर हैं या जीवों द्वारा व्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश राशि) होता है। पुद्गल को छोड़कर शेष चार अस्तित्वों का प्रचय स्वभावतः अविभक्त है। उसमें संघटन और विघटन—ये दोनों घटित होते हैं। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप में रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते हैं। वास्तविक अर्थ में सामुदायिक परिणमन पुद्गल में ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही होता है। जगत् के नानारूप उसी के माध्यम से निर्मित होते हैं। यह जगत् एक रंगमंच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तः

वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपों में परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमें जीव का भी योग होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमें परिवर्तित होने की क्षमता नहीं होती, वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए नहीं रख सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप में परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है। एक परमाणु अनन्तगुणा काला है। वही परमाणु एकगुणा काला हो जाता है। जो एकगुणा काला होता है, वह कभी अनन्तगुणा काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नहीं आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमें भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणों और अनन्त घटनाओं में किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनन्त परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनन्त न हो तो अनन्तकाल में वह अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकता।

अस्तित्व में अनन्त धर्म होते हैं, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास में घी है? इसका उत्तर होगा घास में घी है, किन्तु व्यक्त नहीं है। क्या दूध में घी है? दूध में घी है, पर पूर्ण व्यक्त नहीं है। दूध को बिलोया या दही बनाकर बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य में 'ओघ' और 'समुचित'—ये दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं। 'ओघ' नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। कारण कार्य के अनुरूप ही होता है। कारण अव्यक्त रहता है, कार्य व्यक्त होता है। अब आप पूछें कि घास में घी है या नहीं? तो उत्तर होगा—'ओघ' शक्ति की दृष्टि से है, किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से नहीं है। पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चारों मिलते हैं। गुलाब के फूल में जितनी सुगंध है, उतनी ही दुर्गन्ध है। किन्तु उसमें सुगंध व्यक्त है और दुर्गन्ध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कड़वी है। किन्तु उसमें मिठास व्यक्त है और कड़वाहट अव्यक्त। सड़ान में जितनी दुर्गन्ध है, उतनी सुगन्ध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर से बाहर जा रहा था। मंत्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई। उसमें जल भरा था। वह कूड़े-करकट से गंदा हो रहा था। उसमें मृत पशुओं के कलेवर सड़ रहे थे। दूर तक दुर्गन्ध फूट रही थी। राजा ने कपड़ा निकाला और नाक को दबा लिया। 'कितनी दुर्गन्ध आ रही है।' राजा ने मंत्री की ओर मुड़कर कहा। मंत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने

कहा—‘महाराज ! यह पुद्गलों का स्वभाव है ।’ उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभंगी से मंद कर दिया । बात वहीं समाप्त हो गई । कुछ दिन बाद मंत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया । भोजन के मध्य राजा ने पानी पीया—अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित । राजा बोला—‘मंत्री ! यह पानी तुम कहां से लाते हो ? इच्छा होती है एक गिलास और पीऊं । मैं तुम्हें अभिन्न मानता हूं, किन्तु तुम मुझे वैसा नहीं मानते । तुम इतना अच्छा पानी पीते हो, मुझे कभी नहीं पिलाते ।’ मंत्री मुस्कराया और बोला—‘महाराज ! यह पानी उस खाई से लाता हूं, जहां आपने नाक-भौं सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी ।’ राजा ने कहा—‘यह नहीं हो सकता । यह पानी उस खाई का कैसे हो सकता है ?’ मंत्री अपनी बात पर अटल रहा । राजा ने उसका प्रमाण चाहा । मंत्री ने उस खाई का पानी मंगवाया । राजा की देख-रेख में सारी प्रक्रियाएं चलीं और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगन्धित हो गया जैसा राजा ने मंत्री के घर पीया था । केवल पानी ही क्या, हर वस्तु बदलती है । परिणमन का चक्र चलता रहता है, वस्तुएं बदलती रहती हैं । ‘ओघ’ शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खड़ा या मीठा, सुगन्धमय या दुर्गन्धमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नहीं कह सकते । एक नीम के पत्ते में वे सारे धर्म विद्यमान हैं जो दुनिया में होते हैं । किन्तु ‘समुचित’ शक्ति की दृष्टि से ऐसा नहीं है । उसके आधार पर देखें तो नीम का पत्ता हरा है, चिकना है । उसकी अपनी एक सुगन्ध है । वह हल्का है और मृदु है । हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है ।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं में बहुत सारी बातें घटित होती हैं । उनमें ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी है । ऊर्जा परिणमन के द्वारा ही प्रकट होती है । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है । इस द्रव्यमान, द्रव्य-संहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धांत की व्याख्या परिणामि-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है । आइन्स्टीन से पहले वैज्ञानिक जगत् में यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में नहीं बदला जा सकता । दोनों स्वतन्त्र हैं । किंतु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धांत बदल गया । यह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनों भिन्न नहीं किन्तु एक ही वस्तु के रूपांतरण हैं । एक पौंड कोयला लें और उसकी द्रव्य-संहति को शक्ति में बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत

शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त-धारा में वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमें अनन्त-शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् में जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत् है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति में ले जाया जा सकता है, जहां उसकी स्थूलता समाप्त हो जाए, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहति समाप्त हो जाए और उसे शक्ति के रूप में बदल दिया जाए।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते हैं तब वह द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है? आदमी कोई द्रव्य नहीं है। आदमी है कहां? आप सारी दुनिया में दूढ़ें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नहीं मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नहीं है। वह एक पर्याय है। दुनिया में जितनी वस्तुओं को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्यायें हैं, हम पर्याय को देख रहे हैं। द्रव्य हमारे सामने नहीं आता। वह आंखों से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों में प्रकट किया था—

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।'

—हम अभेद के परिपार्श्व में चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व में चलें तो द्रव्य लुप्त हो जाएगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बड़ी हो जाएगी। भेद अभेद को निगल जाएगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत् में जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व में जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी में नहीं है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल में है, उतनी किसी में नहीं है। हमारे जगत् में व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है।

तत्त्ववाद

इस जगत् में जो है वह तत्त्व है, जो नहीं है वह तत्त्व नहीं है। होना ही तत्त्व है, नहीं होना तत्त्व नहीं है। तत्त्व का अर्थ है—होना।

विश्व के सभी दार्शनिकों और तत्त्ववेत्ताओं ने अस्तित्व पर विचार किया। उन्होंने न केवल उस पर विचार किया, उसका वर्गीकरण भी किया। दर्शन का मुख्य कार्य है—तत्त्वों का वर्गीकरण।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक सोलह तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक के अनुसार तत्त्व छह हैं। मीमांसा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसका तात्त्विक वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म नहीं है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक परम ब्रह्म है। सांख्य प्राचीनकाल में श्रमण-दर्शन था और वर्तमान में वैदिक दर्शन में विलीन है। उसके अनुसार तत्त्व पचीस हैं। चर्वाक दर्शन के अनुसार तत्त्व चार हैं।

मालुंकापुत्र भगवान् बुद्ध का शिष्य था। उसने बुद्ध से पूछा—मरने के बाद क्या होता है? आत्मा है या नहीं? यह विश्व सान्त है या अनन्त? बुद्ध ने कहा—‘यह जानकर तुम्हें क्या करना है?’

उसने कहा—‘क्या करना है, यह जानना चाहते हैं?’ मुझे आप उनका उत्तर दें और यदि उत्तर नहीं देते हैं तो मैं दर्शन को छोड़ दूसरे दर्शन में जाने की बात सोचूँ। या तो आप कहें कि मैं इन विषयों को नहीं जानता और यदि जानते हैं तो मुझे उत्तर दें। मैं सत्य को जानने के लिए आपके शासन में दीक्षित हुआ था, किन्तु मुझे मेरी जिज्ञासा का उत्तर नहीं मिल रहा है।’

बुद्ध ने कहा—‘मैंने कब कहा था कि मैं सब प्रश्नों के उत्तर दूँगा और तुम मेरे मार्ग में चले आओ।’

मालुंकापुत्र बोला—‘आपने कहा तो नहीं था।’

बुद्ध ने कहा—‘फिर तुम मुझे आंखें क्यों दिखा रहे हो? देखो, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने बाण मारा। वह बाण से बिंध गया। अब कोई व्यक्ति आता है,

वैद्य आता है और कहता है बाण को निकालें और घाव को ठीक करें। किन्तु वह व्यक्ति कहता है कि मैं तब तक बाण नहीं निकलवाऊंगा जब तक कि यह पता न लग जाए कि बाण किसने फेंका है? फेंकने वाला कितना लम्बा-चौड़ा है? वह कितना शक्तिशाली है? वह किस वर्ण का है? बाण क्यों फेंका गया? किस धनुष से फेंका गया? वह धनुष कैसा है? तूणीर कैसा है? प्रत्यंचा कैसी है? ये सारी बातें मुझे जब तक ज्ञात नहीं हो जातीं, तब तक मैं इस बाण को नहीं निकलवाऊंगा। बोलो इसका अर्थ क्या होगा?’

मालुकापुत्र बोला—‘वह मर जाएगा। बाण के निकालने से पहले ही मर जाएगा। वह जीवित नहीं रह सकेगा।’

बुद्ध ने कहा—‘इसीलिए मैं कहता हूँ कि बाण को निकालने की जरूरत है। बाण किसने बनाया, कहां से आया, किस प्रकार से फेंका गया, किस धनुष से फेंका गया, इन कल्पनाओं में उलझने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं है। जिन बातों में उलझने की जरूरत है उन्हीं में उलझो। दुःख क्या है? दुःख का हेतु क्या है? निर्वाण क्या है और निर्वाण का हेतु क्या है? ये चार आर्य-सत्य क्या हैं? इन्हीं को जानने का प्रयत्न करो।’

पूर्व-प्रतिपादित वर्गीकरण और मीमांसाओं के संदर्भ में मैं भगवान् महावीर का तात्त्विक वर्गीकरण का विश्लेषण करूंगा। प्रारम्भ में एक धारा की ओर मैं इंगित करना चाहता हूँ। वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और कुछ दार्शनिक जैन दर्शन को वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनों का ऋणी मानते हैं। कुछ विद्वान् लिखते हैं कि परमाणुवाद महर्षि कणाद की देन है। जैन दर्शन ने उसका अनुकरण किया है। कुछ विद्वान् लिखते हैं—जैन दर्शन सांख्य दर्शन का ही रूपान्तर है। उसका तत्त्ववाद मौलिक नहीं है। ये धारणाएं क्यों चलती हैं? इनका रहस्य खोजना जरूरी है। वे विद्वान् लेखक या तो इतिहास के कक्ष तक पहुंचने का तीव्र प्रयत्न नहीं करते या वे साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनों में से एक बात अवश्य है।

मालिक ने नौकर से कहा—‘जाओ, बगीचे में पानी सींच आओ।’ नौकर बोला—‘महाशय ! इसकी जरूरत नहीं है। वर्षा हो रही है तब पानी सींचकर क्या करूं?’ मालिक ने कहा—‘वर्षा से डरते हो तो छाता ले जाओ। पानी तो सींचना ही होगा।’ अब आप देखिये, वर्षा हो रही है, फिर पानी सींचने की क्या जरूरत है? कोई नहीं। किन्तु मालिक कह रहा है कि वर्षा हो रही है तो होने दो। भींगने

का डर लगता है तो छाता ले जाओ। पर पानी सींचना ही होगा। उसके सामने छाते की उपयोगिता है। वह उसी को समझ रहा है। वर्षा से जो सहज सिंचन हो रहा है, उसे या तो वह समझ नहीं पा रहा है या जान-बूझकर नकार रहा है। मुझे लगता है कि यह एक प्रवाह है कि छाते की बात सुझाई जा रही है और पानी स्वयं सिंचित हो रहा है, उसे स्वीकृत नहीं किया जा रहा है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र भगवान् महावीर के बाद लिखा था। सांख्य दर्शन का विकास भगवान् पार्श्व के बाद और भगवान् महावीर के आस-पास हुआ था। किन्तु तत्त्व के विषय में सांख्य और जैन दर्शन का दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। इसलिए तत्त्व के वर्गीकरण में सांख्य दर्शन जैन दर्शन का आभारी है या जैन दर्शन सांख्य दर्शन का आभारी है, यह नहीं कहा जा सकता। सांख्य दर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवादी की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुड़ी हुई है। जैन दर्शन द्रव्य-पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सांख्य के प्रकृति और पुरुष—इन दोनों से सर्वथा भिन्न हैं।

भगवान् महावीर ने पांच अस्तिकाओं का प्रतिपादन किया। राजगृह के बाहर गुणशिलक नाम का चैत्य था। उसकी थोड़ी दूरी पर परिव्राजकों का एक 'आवसथ' था। उसमें कालोदायी आदि अनेक परिव्राजक रहते थे। एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे, गुणशिलक में ठहरे। राजगृह में 'महुक' नाम का श्रमणोपासक रहता था। वह भगवान् को वन्दना करने के आ रहा था। परिव्राजकों ने उसे देखा, अपने पास बुलाया और कहा—'तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पांच अस्तिकाओं का प्रतिपादन करते हैं। तुम जानते हो, देखते हो?'

महुक ने कहा—'जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते हैं, देखते हैं, और जो पदार्थ कार्य नहीं करता, उसे हम नहीं जानते, नहीं देखते।'

परिव्राजक बोले—'तुम कैसे श्रमणोपासक हुए जो तुम अपने धर्माचार्य के द्वारा प्रतिपादित अस्तिकाओं को नहीं जानते, नहीं देखते।'

उनका व्यंग्य सुन महुक बोला—

'आयुष्मन् ! क्या हवा चल रही है?'

'हां, चल रही है।'

'क्या चलती हुई हवा का आप रूप देख रहे हैं?'

'नहीं।'

'आयुष्मन् ! हम हवा को नहीं देखते किन्तु हिलते हुए पत्तों को देखकर हम

जान लेते हैं कि हवा चल रही है ।’

‘फूलों की भीनी सुगन्ध आ रही है ।’

‘हां, आ रही है ।’

‘सुगन्ध के परमाणु हमारी नासा में प्रविष्ट हो रहे हैं ?’

‘हां, हो रहे हैं ।’

‘क्या आप नासा में प्रविष्ट सुगन्ध के परमाणुओं का रूप देख रहे हैं ?’

‘नहीं !’

‘आयुष्मन् ! अरणि की लकड़ी में अग्नि है ?’

‘हां, है ।’

‘क्या आप अरणि में छिपी हुई अग्नि का रूप देख रहे हैं ?’

‘नहीं ।’

‘आयुष्मन् ! क्या समुद्र के उस पार रूप है ?’

‘हां, है ।’

‘क्या आप समुद्र के पारवर्ती रूपों को देख रहे हैं ?’

‘नहीं ।’

‘आयुष्मन् ! मैं या आप, कोई भी परोक्षदर्शी सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती वस्तु को नहीं जानता, नहीं देखता किन्तु वह सब नहीं होता, ऐसा नहीं है । हमारे ज्ञान की अपूर्णता द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नहीं सकती । यदि मैं पांचों अस्तिकायों को साक्षात् नहीं जानता-देखता, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वे नहीं हैं । भगवान् महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनका साक्षात् किया है, उन्हें जाना-देखा है, इसलिए वे उनका प्रतिपादन कर रहे हैं ।’

इस प्रसंग से जाना जा सकता है कि पंचास्तिकाय का वर्गीकरण अन्य-तीर्थिकों के लिए कुतूहल का विषय था । इस विषय में वे जानते नहीं थे । उन्होंने इस विषय में कभी सुना-पढ़ा नहीं था । यह उनके लिए सर्वथा नया विषय था । महुक के तर्कपूर्ण उत्तर से भी वे अस्तिकाय का मर्म समझ नहीं पाए ।

कुछ दिन बाद, फिर परिव्राजकों की गोष्ठी जुड़ी । उसमें कालदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी आदि अनेक परिव्राजक सम्मिलित थे । उनमें फिर महावीर के पंचास्तिकाय पर चर्चा चली । कालोदायी ने कहा—‘श्रमण महावीर पांच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और

पुद्गलास्तिकाय । वे कहते हैं कि चार अस्तिकाय अजीव हैं, एक जीवास्तिकाय जीव है । चार अस्तिकाय अमूर्त हैं, एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त है यह कैसे हो सकता है ? उस समय भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम राजगृह से गुणशिलक चैत्य की ओर जा रहे थे । उन परिव्राजकों ने गौतम को देखा और वे परस्पर बोले—‘देखो, वे गौतम जा रहे हैं । महावीर का इनसे अधिक अधिकृत व्यक्ति कौन मिलेगा ? अच्छा है हम उनके पास चलें और अपनी जिज्ञासा को उनके सामने रखें ।’ उस समय एक संन्यासी दूसरे संन्यासी के पास मुक्तभाव से चला जाता, बुला लेता, अपने स्थान में आमंत्रित कर लेता—इसमें कोई कठिनाई नहीं थी । मुक्तभाव और मुक्त वातावरण था । इसलिए परिव्राजकों को गौतम के पास जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई । वे सब उठे और गौतम के पास पहुंच गए । उन्होंने कहा—‘तुम्हारे धर्माचार्य ने पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया है । क्या यह युक्ति-संगत है ?’

गौतम ने उनसे कहा—‘आयुष्मन् परिव्राजको ! हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते और नास्ति को अस्ति नहीं कहते । हम सम्पूर्ण अस्तिभाव को अस्ति कहते हैं और सम्पूर्ण नास्तिभाव को नास्ति कहते हैं । तुम स्वयं इस पर मनन करो और इसे ध्यान से देखो ।’

गौतम परिव्राजकों को संक्षिप्त उत्तर देकर आगे चले गए । कालोदायी ने सोचा—पंचास्तिकाय के विषय में हमने महुक को पूछा, फिर गौतम को पूछा । उन्होंने अपने-अपने ढंग से उत्तर भी दिए । पर जब महावीर स्वयं यहां उपस्थित हैं तब क्यों न हम महावीर से ही उस विषय में पूछें ? कालोदायी के पैर भी महावीर की दिशा में बढ़ गए । उस समय भगवान् महाकथा कर रहे थे । कालोदायी वहां पहुंचा । भगवान् ने उसे देखकर कहा—कालोदायी ! तुम लोग गोष्ठी कर रहे थे और उस गोष्ठी में मेरे द्वारा प्रतिपादित पंचास्तिकाय के विषय में चर्चा कर रहे थे । क्यों, यह ठीक है न ?’

‘हां, भंते ! वैसा ही है जैसा कह रहे हैं ।’

‘कालोदायी ! तुम्हारी जिज्ञासा है कि मैं पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करता हूं, वह कैसे ? कालोदायी ! तुम्हारी बताओ, पंचास्तिकाय है या नहीं ? यह प्रश्न किसको होता है, चेतन को या अचेतन को ? आत्मा को या अनात्मा को ?’

‘भंते ! आत्मा को होता है ।’

‘कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूं । जीव चेतनामय प्रदेशों का अविभक्त काय है, इसलिए मैं जीवास्तिकाय कहता हूं ।’

‘कालोदायी ! क्या तुम जानते हो कि मछली पानी में तैरती है ?’

‘हां भंते ! जानता हूं ।’

‘तैरने की शक्ति मछली में है या पानी में ?’

‘भंते ! तैरने की शक्ति मछली में है ।’

‘तो क्या वह पानी बिना तैर सकती है ?’

‘नहीं, भंते ! ऐसा नहीं हो सकता ।’

‘मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गति करने के लिए तत्त्व की अपेक्षा है । जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में अपेक्षित सहयोग करता है, उसे मैं धर्मास्तिकाय कहता हूं ।

मछली पानी के बाहर आती है और भूमि पर आ स्थिर हो जाती है । स्थिर होने की शक्ति मछली में है किन्तु भूमि उसे स्थिर होने में सहायता देती है । जीव और पुद्गल में स्थिति की शक्ति है । उनकी स्थिति में जो अपेक्षित सहयोग करता है, उस स्थिति-तत्त्व को मैं अधर्मास्तिकाय कहता हूं ।

‘गति-तत्त्व और स्थिति—तत्त्व दोनों अस्तिकाय हैं । इनकी अविभक्त प्रदेश-राशि आकाश के बृहद् भाग में फैली हुई है । आकाश के जिस खण्ड में ये हैं, वहां गति है, स्पन्दन है, जीवन है और परिवर्तन है । इस आकाश-खण्ड को मैं लोक कहता हूं । इससे परे जो आकाश-खण्ड है, उसे मैं ‘अलोक’ कहता हूं । लोक का आकाश-खण्ड सांत है, ससीम है । अलोक का आकाश-खण्ड अनन्त है, अससीम है ।

‘तुम देख रहे हो कि यह पेड़, यह मनुष्य, यह मकान कहीं न कहीं टिके हुए हैं । तुमने देखा है कि पानी घड़े में टिकता है । घड़ा फूट जाता है, पानी दुलक जाता है । पानी को टिकने के लिए कोई आधार चाहिए । इसी प्रकार द्रव्य को भी आधार की अपेक्षा होती है । एक द्रव्य अस्तित्व में है, उसमें आधार देने की क्षमता है उसे मैं आकाशास्तिकाय कहता हूं ।’

‘तुम देख रहे हो सामने एक पेड़ है । क्या देख रहे हो ?’

‘क्या उसकी सुगंध नहीं आ रही है ?’

‘भंते ! हैं ।’

‘इसकी कोमल पत्तियों का स्पर्श मन को आकर्षित नहीं करता ?’

‘कालोदायी ! जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होता है, उसे मैं पुद्गलास्तिकाय कहता हूं ।’

‘मैंने अस्तिकायों को जाना है, देखा है । इसीलिए मैं पांच अस्तिकायों का

प्रतिपादन करता हूँ। इनका प्रतिपादन मैं किसी शास्त्र के आधार पर नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कर रहा हूँ।'

महावीर का आत्मिक प्रवचन सुनकर कालोदायी का मन समाहित हो गया।

यह पंचास्तिकाय का वर्गीकरण मौलिक है। भारतीय दर्शनों के तात्त्विक वर्गीकरण को सामने रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने वाला यह कहने का साहस नहीं करेगा कि यह वर्गीकरण दूसरों से ऋण-प्राप्त है। कुछ विद्वान् स्वल्प अध्ययन के आधार पर विचित्र-सी धारणाएं बना लेते हैं और उन्हें आगे बढ़ाते चले जाते हैं। यह बहुत ही गम्भीर चिन्तन का विषय है कि विद्वत् जगत् में ऐसा हो रहा है।

कहीं-न-कहीं कोई आवरण अवश्य है। आवरण के रहते सचाई प्रकट नहीं होती। मुझे एक घटना याद आ रही है। एक राजकुमारी को संगीत की शिक्षा देनी थी। वीणा-वादन और संगीत के लिए राजकुमार उदयन का नाम सूर्य की भांति चमक रहा था। राजा ने कूट-प्रयोग से उदयन को उपलब्ध कर लिया। राजा राजकुमारी को संगीत सिखाना चाहता था और दोनों को सम्पर्क से बचाना भी चाहता था। इसलिए दोनों के बीच में यवनिका बांध दी। दोनों के मनों में भी यवनिका बांधने की चेष्टा की। उदयन से कहा गया—'राजकुमारी अन्धी है। वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाती है। अतः वह यवनिका के भीतर बैठेगी।' राजकुमारी से कहा गया—'उदयन कोढ़ी है। वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाता है अतः वह यवनिका के बाहर बैठेगा।' शिक्षा का क्रम चालू हुआ और कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन उदयन संगीत का अभ्यास करा रहा था। राजकुमारी बार-बार स्खलित हो रही थी। उदयन ने कई बार टोका, फिर भी राजकुमारी उसके स्वरों को पकड़ नहीं सकी। उदयन कुछ क्रुद्ध हो गया। उसने आवेश में कहा—'जरा संभलकर चलो। कितनी बार बता दिया, फिर भी ध्यान नहीं देती हो। आखिर अन्धी जो हो!' राजकुमारी के मन पर चोट लगी। वह बौखला उठी। उसने भी आवेश में कहा—'कोढ़ी! जरा संभलकर बोलो!' उदयन ने सोचा—कोढ़ी कौन है? मैं तो कोढ़ी नहीं हूँ। फिर राजकुमारी ने कोढ़ी कैसे कहा? राजकुमारी ने भी इसी भाषा में सोचा—मैं तो अन्धी नहीं हूँ। फिर उदयन ने अन्धी कैसे कहा? सचाई जानने के लिए दोनों तड़प उठे। यवनिका को हटाकर देखा—कोई अन्धी नहीं है और कोई कोढ़ी नहीं है। बीच का आवरण यह धारणा बनाए हुए था कि यवनिका के इस पार अन्धापन और उस पार कोढ़। आवरण हटा और दोनों बातें हट गईं। मुझे लगता है, जैन दर्शन की मौलिकताओं को समझने में भी कोई आवरण बीच में आ

रहा है। अब उसे हटाना होगा।

‘परमाणुवाद का विकास वैशेषिक दर्शन से हुआ है, फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है। चेतन और अचेतन—इस द्वैत का प्रतिपादन सांख्य दर्शन ने किया है। फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है।’ यह सब ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानो जैन दर्शन का अपना कोई मौलिक रूप है ही नहीं। वह सारा का सारा ऋण लेकर अपना काम चला रहा है। सत्य तो यह है कि परमाणु और पुद्गल के बारे में जितना गम्भीर चिन्तन जैन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी दर्शन के आचार्यों ने नहीं किया। सांख्य दर्शन की प्रवृत्ति और उसका विस्तार एक पुद्गलास्तिकाय की परिधि में आ जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा स्वतन्त्र है। जैन दर्शन की प्राचीनता की अस्वीकृति उसके आधारभूत आगम-सूत्रों के अध्ययन की परम्परा के अभाव और जैन विद्वानों की उपेक्षावृत्ति ने ऐसी स्थिति का निर्माण किया है कि जैन दर्शन का देय उसी के लिए ऋण के रूप में समझा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने वस्तु-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा—दोनों दृष्टियों से तत्त्व का वर्गीकरण किया। वस्तु-मीमांसा की दृष्टि से उन्होंने पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया और मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से उन्होंने नौ तत्त्वों का निरूपण किया।

चार्वाक का तात्त्विक वर्गीकरण केवल वस्तु-मीमांसा की दृष्टि से है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार तत्त्व हैं। उनसे निर्मित यह जगत् भौतिक और दृश्य है। अदृश्य सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम का तात्त्विक वर्गीकरण एक प्रकार से प्रमाण-मीमांसा है। वैशेषिक दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण नैयायिक दर्शन की अपेक्षा वास्तविक है। उसमें गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की व्यवस्थित व्याख्या मिलती है। जैन दर्शन की दृष्टि से इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ये द्रव्य के ही धर्म हैं। सांख्य दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण सृष्टि-क्रम का प्रतिपादन करता है। इनके पचीस तत्त्वों में मौलिक तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पंचास्तिकाय के वर्गीकरण में पाँचों द्रव्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किसी का गुण या अवान्तर विभाग नहीं है। गति, स्थिति, अवगाह, चैतन्य तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये विशिष्ट गुण हैं। इन्हीं के द्वारा उनकी स्वतंत्र सत्ता है। इस वर्गीकरण में न प्रमाण-मीमांसा है, न गुणों की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति और न सृष्टि का क्रम। इसमें दृश्य और अदृश्य, भौतिक और अभौतिक अस्तित्वों का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण

मौलिक और वास्तविक है ।

वस्तु-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा का वर्गीकरण एक साथ किया होता तो वह नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य दर्शन जैसा मिलाजुला वर्गीकरण होता । उसकी वैज्ञानिकता समाप्त हो जाती । पंचास्तिकाय के कार्य के विषय में संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है । फिर भी उस विषय में महावीर और गौतम का एक संवाद मैं प्रस्तुत करना चाहूंगा । गौतम ने पूछा—‘भंते ! धर्मास्तिकाय से क्या होता है ?’ भगवान् ने कहा—‘गौतम ! आदमी चल रहा है, हवा चल रही है, श्वास चल रहा है, वाणी चल रही है, आंखें झपक रही हैं, यह सब धर्मास्तिकाय के सहारे से हो रहा है । यदि वह न हो तो विशेष और उन्मेष नहीं हो सकता । यदि वह न हो तो आदमी बोल नहीं सकता । यदि वह न हो तो आदमी सोच नहीं सकता । यदि वह नहीं होता तो सब कुछ पुतली की तरह स्थिर और स्पन्दनहीन होता ।’

उपनिषद् के ऋषियों ने कहा कि आकाश नहीं होता तो आनन्द नहीं होता । आनन्द कहां होता है ? आकाश है, तभी तो आनन्द है । ठीक इसी भाषा में भगवान् महावीर ने कहा—‘धर्मास्तिकाय नहीं होता तो स्पन्दन भी नहीं होता । तुम पूछ रहे हो और मैं उत्तर दे रहा हूँ, यह इसलिए हो रहा है कि धर्मास्तिकाय है । यदि वह नहीं होता तो न तुम पूछ सकते और न मैं उत्तर दे सकता । हम मिलते भी नहीं । जो जहां है, वह वहीं होता । हमारा मिलन, वाणी का मिलन, शरीर का मिलन, वस्तु का मिलन जो हो रहा है, एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान में आ-जा रही है, यह सब उसी गतितत्त्व के माध्यम से हो रहा है ।’ वह अपना सहारा इतने उदासीन भाव से दे रहा है कि किसी को कोई शिकायत नहीं है । उसमें चेतना नहीं है, इसलिए न उपकार का अहंकार है और न कोई पक्षपात । वह स्वाभाविक ढंग से अपना कार्य कर रहा है ।’

गौतम ने पूछा—‘भंते ! अधर्मास्तिकाय से क्या होता है ?’

भगवान् ने कहा—‘तुम अभी ध्यान कर आए हो । उसमें तुम्हारा मन कहां था ?’

‘भंते ! कहीं नहीं । मैंने मन को निरुद्ध कर दिया था ।’

भगवान् बोले—‘यह निरोध, एकाग्रता और स्थिरता अधर्मास्तिकाय के सहारे होता है । यदि वह नहीं होता तो न मन एकाग्र होता, न मौन होता और न तुम आंख मूंद बैठ सकते । तुम चलते ही रहते । इस अनन्त आकाश में अविराम चलते रहते । जिस बिन्दु से चले उस पर फिर कभी नहीं पहुंच पाते । अनन्त आकाश में खो जाते ।

किन्तु गति के प्रतिकूल हमारी स्थिति है। इसीलिए हम कहीं टिके हुए हैं। इस कार्य में अधर्मास्तिकाय वैसे ही उदासीन भाव से हमारा सहयोग कर रहा है, जैसे गति में धर्मास्तिकाय।’

गौतम ने पूछा—‘आकाश में क्या होता है?’

भगवान् ने कहा—‘धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन सबका अस्तित्व आकाश के अस्तित्व पर निर्भर है। वह उन सबको आधार दे रहा है। जिस आकाश खण्ड में धर्मास्तिकाय है, उसी में अधर्मास्तिकाय है, उसी में जीवास्तिकाय और उसी में पुद्गलास्तिकाय है। आकाश की यह अवकाश देने की क्षमता नहीं होती तो ये एक साथ नहीं होते। उसके अभाव में इन सबका भाव नहीं होता।’

गौतम ने पूछा—‘भंते ! जीव क्या करता है !’

भगवान् ने कहा—‘वह ज्ञान करता है, अनुभव करता है। उसके पास इन्द्रियाँ हैं। वह देखता है, सुनता है, सूँघता है, चलता है और छूता है। सामने हरा रंग है। आंख ने देखा, उसका काम हो गया। पत्तियों की खनखनाहट हो रही है। कान ने सुना, उसका काम समाप्त। हवा के साथ आने वाली सुगन्ध का नाक ने अनुभव किया, उसका काम समाप्त। जीभ ने फल का रस चखा और उसका काम पूरा हो गया। हाथ ने तने को छुआ और उसका काम पूरा हो गया। किन्तु कुल मिलाकर वह क्या है ? यह न आंख जानती है और न कान। इसके बिखरे हुए अनुभवों को समेटकर संकलन करने वाला जो है, वह है मन। उसके लिए हरा रंग, पत्तियाँ, पुष्प, फल और छाल—ये अलग-अलग नहीं हैं किन्तु एक ही पेड़ के विभिन्न रूप हैं। इन्द्रियों के जगत् में वे अलग-अलग होते हैं और मन के जगत् में वे सब अभिन्न होकर पेड़ बन जाते हैं। मन सोचता है, मनन करता है, कल्पना करता है और स्मृति करता है। जीव के पास बुद्धि है। वह मन के द्वारा प्राप्त सामग्री का विवेक करती है, निर्णय देती है और उसमें कुछ अद्भुत क्षमताएं हैं। वह इन्द्रिय और मन से सामग्री प्राप्त किए बिना ही कुछ विशिष्ट बातें जान लेती है। ये (इन्द्रिय, मन और बुद्धि) सब जीव की चेतना के भौतिक संस्करण हैं। इसलिए ये पुद्गलों के माध्यम से एक को जानते हैं। ये ज्ञेय का साक्षात्कार नहीं कर सकते। शुद्ध चेतना ज्ञेय का साक्षात्कार करती है। वह किसी माध्यम से नहीं जानती इसीलिए हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान का संपूर्ण क्षेत्र जीव के अधिकार में है।’

गौतम ने पूछा—‘भंते ! पुद्गल का क्या कार्य है?’

भगवान् ने कहा—‘आदमी श्वास लेता है, सोचता है, बोलता है, खाता है—यह सब पुद्गल के आधार पर हो रहा है। श्वास की वर्गणा (पुद्गल समूह) है, इसलिए वह श्वास लेता है। मन की वर्गणा है, इसलिए वह सोचता है। भाषा की वर्गणा है, इसलिए वह बोलता है। आहार की वर्गणा है, इसलिए वह खाता है। ये यदि वर्गणाएं नहीं होतीं तो न कोई श्वास लेता, न कोई सोचता, न कोई बोलता और न कोई खाता। जितने दृश्य तत्त्व हैं, वे सब पुद्गल की वर्गणाएं हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप एक है, फिर भी कार्य के आधार पर उसकी अनेक वर्गणाएं हैं। उसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। एक ग्वाला भेड़ों को चराता था। वे अनेक लोगों की थीं। उसे गिनती करने में कठिनाई होती थी। उसने एक रास्ता निकाला। एक-एक मालिक की भेड़ों का एक-एक वर्ग बना दिया और उन्हें एक-एक रंग से रंग दिया। उसे सुविधा हो गई। यह वर्गणाओं का विभाजन भी कार्यबोध की सुविधा के आधार पर किया गया है। जीव की जितनी भी प्रवृत्ति होती है, वह पुद्गल की सहायता से होती है। यदि वह नहीं होता तो कोई प्रवृत्ति नहीं होती। सब कुछ निष्क्रिय और निर्वोर्य होता।

अद्वैत और द्वैत

मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। इसलिए वह सोचता है, देखता है। वह मानसिक स्तर पर सोचता है। मन की गहराई में उतर कर देखता है। सत्य की खोज चिन्तन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक सन्दर्भ में हुआ है। मनुष्य ने सामाजिक जीवन-जीना प्रारम्भ किया। 'उसके बाद उसने सत्य की खोज बड़ी तीव्रता से की। उसने देखा कि पहाड़ क्या है? नदियां क्या हैं? दिखाई देने वाले ये पदार्थ क्या हैं? क्या ये ही सब कुछ हैं या इनसे परे भी कुछ है? क्या ये सृष्ट हैं या स्वयंभू हैं? इनका सृष्टा कौन है? अगर कोई है तो वह ज्ञात है या अज्ञात?—इस प्रकार अनेक जिज्ञासाएं मनुष्य के मन में पैदा हुईं और उसने अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए। इस श्रृंखला में दृष्टि और विचारों का विकास हुआ। दृष्टि और विचार—ये दोनों दर्शन परक हैं। दर्शन का निर्माण किया नहीं गया, वह हो गया।

मैं जो देखता हूँ उसे दूसरा माने या न माने, यह मेरे पर निर्भर नहीं है। यह निर्भर है सामने वाले पर। मैंने जो अन्तर्दृष्टि से देखा, उसे समझाने के लिए, उसकी व्याख्या की तर्क के माध्यम से। मैंने जो देखा, उसे मैं अपने तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता हूँ और सामने वाले व्यक्ति को मेरा तर्क स्वीकार हो जाता है तो मेरा विचार और उसका विचार—दोनों का विचार एक हो जाता है। तर्क दोनों को जोड़ने का काम करता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक है और तर्क है दोनों को जोड़ने वाला सूत्र। दोनों में वैचारिक एकता का संपादन करने वाला सूत्र है तर्क। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और विचार—दोनों मिलकर दर्शन की आत्मा का निर्माण करते हैं। दर्शन का प्रासाद इन दोनों खम्भों पर खड़ा हुआ है।

दर्शन की दो धाराएं

दर्शन की धारा बहुत प्राचीन है। विश्व के इतिहास में दो देश थे दर्शन के आविष्कारक—भारत और यूनान। भारतीय दार्शनिक और यूनानी दार्शनिक—ये

दोनों विश्व के सभी दर्शनों को प्रभावित करने वाले हुए हैं। भारत के दार्शनिकों ने पूर्वी जगत् को प्रभावित किया और यूनान के दार्शनिकों ने पश्चिमी जगत् को प्रभावित किया। पश्चिम के सारे दर्शन यूनानी दर्शन से प्रभावित हैं और पूर्व के सारे दर्शन भारतीय दर्शन से प्रभावित हैं। इस प्रकार विश्व के पटल पर इन दो देशों के दार्शनिकों ने अपनी विचार धारा का पूरा प्रभुत्व स्थापित किया।

मेरे सामने दर्शन की अनेक धाराएं हैं। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद—इन दो रूपों में करना मुझे इष्ट है। मनुष्य ने जब देखा तब प्रारम्भिक दर्शन में जो स्थूल था वह सामने आ गया। मैं खड़ा हूं। मेरे सामने एक वृक्ष है। मैं उसे जितनी सुगमता से देख सकता हूं, उतनी सुगमता से उसके नीचे चलने वाली चींटी को नहीं देख सकता। क्योंकि वृक्ष स्थूल है और चींटी सूक्ष्म। उस पर मेरी दृष्टि नहीं दौड़ती, वृक्ष पर पहले ही दौड़ जाती है। आदमी स्थूल को जल्दी पकड़ता है। सूक्ष्म तक पहुंचने में उसे बहुत गहराई में उतरना पड़ता है। हमारे सामने जो स्थूल जगत् है, वह भौतिक है। दार्शनिकों ने सबसे पहले भौतिक जगत् को देखा। उन्होंने देखा, दुनिया में पृथ्वी है, पानी है, अग्नि है और वायु है। उन्होंने देखा कि जो दिखाई दे रहा है वह इन्हीं के द्वारा निष्पन्न है। इन चार भूतों से दुनिया का निर्माण हुआ है।

कुछ चिंतक आगे बढ़े। उन्होंने आकाश को भी खोजा। आकाश भी एक तत्त्व है, भूत है। भारतीय दर्शन में दो धाराएं चलीं—एक चतुर्भूतवादी और एक पंचभूतवादी। पश्चिमी दार्शनिकों में भी इस विषय में काफी मतभेद रहा। किसी ने माना कि सारी दुनिया का मूल जल है, किसी ने माना कि वायु है और किसी ने माना कि अग्नि है। जलवादी, वायुवादी और अग्निवादी—ये स्थूलवादी विचारक रहे हैं। इन दोनों धाराओं के विकास के बाद मनुष्य के मन में फिर द्वन्द्व उत्पन्न हुआ। उसने सोचा—भूत अचेतन है। यह चेतन क्या है? सोचता कौन है? विचार कौन करता है? जानने का प्रयत्न कौन करता है? भौतिक तत्त्वों में चिन्तन, मनन और ज्ञान नहीं है। उसने फिर चेतना की ओर ध्यान दिया। चेतना भौतिक तत्त्वों में नहीं है। पृथ्वी में चेतना नहीं है, पानी में चेतना नहीं है, अग्नि, वायु और आकाश में चेतना नहीं है। चिन्तन करते-करते वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि चेतना भौतिक तत्त्वों की परिणति है, उनके संघटन की क्रिया है। उनसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। यदि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह भौतिक तत्त्वों से कहीं पृथक् दिखाई

देता। जैसे जल का कण हमें दिखाई देता है वैसे चेतना की स्वतन्त्र सत्ता हमें कहीं दिखाई नहीं देती। भूतवादी दार्शनिकों ने चेतना को स्वीकार किया किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया। दूसरी धारा उन दार्शनिकों की है जो स्थूल जगत् में रुके नहीं, जिनके चरण उससे आगे बढ़े। उन्होंने स्थूल को देखा और साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। उनका चिन्तन इस दिशा में आगे बढ़ा कि चेतना भौतिक नहीं है। वह न प्रत्येक भूत में है और न उनकी सामुदायिक परिणति में है। प्रत्येक भूत यदि उसका उपादान नहीं है तो उनकी संहति भी चेतना का उपादान नहीं हो सकती। संहति में वही गुण प्रकट होता है, उपादान के रूप में जिसकी सत्ता प्रत्येक इकाई में होती है। चेतना का उपादान न कोई भौतिक इकाई है और न उसकी संहति। इस स्थिति में उसका उपादान कोई स्वतन्त्र सत्ता है। वे चिन्तन-मनन से आगे ध्यान की गहराई में गए और उन्होंने चेतना के उपादान का साक्षात्कार किया। उन्होंने उसका नाम रखा 'आत्मा' इन्द्रियां से दृष्ट नहीं है। वह चेतना की अधिक गहराई में जाने पर ही दृष्ट होती है इसलिए आत्मवादी दार्शनिकों ने दर्शन की अध्यात्मवादी धारा को विकसित किया।

जैन दर्शन का द्वैतवाद

जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। वह आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। आत्मवादी दार्शनिकों ने आत्मा का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। वेदांत भारत के प्रमुख दर्शनों में से एक है। उसने उपनिषदों के आधार पर आत्मा की व्याख्या की। उपनिषद् भारतीय तत्त्वचिन्तन के अपूर्ण कोश हैं। उनमें शताब्दियों तक होने वाले सूक्ष्म चिन्तन संकलित हैं। सृष्टि के गहनतम रहस्यों को जानने का जो तीव्रतम प्रयत्न हुआ उसकी प्रतिध्वनि उपनिषद् के शब्दों में सुनाई देती है। वेदान्त उनका प्रतिनिधित्व करता है। उसका सिद्धांत है—मूल आत्मा एक है। उसकी संज्ञा है 'ब्रह्म'। चैतन्य की पारमार्थिक सत्ता वही है। दृश्य जगत् में जो चेतन और अचेतन है, वह सब उसी मूल आत्मा का प्रपंच है। यह 'चैतन्य द्वैतवाद' है। 'जड़द्वैतवादी' दार्शनिकों का अभिमत है भूत ही वास्तविक सत्ता है, चेतन वास्तविक सत्ता नहीं है। ठीक इसके विपरीत 'आत्मा द्वैतवादी' वेदान्त का अभिमत है—चेतन ही वास्तविक सत्ता है, भूत वास्तविक सत्ता नहीं है।

जड़वादी कहते हैं—भूत चेतन से उत्पन्न हुआ है तो आत्मद्वैतवादी कहते हैं कि चेतन से भूत उत्पन्न हुआ है। दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनों एक-दूसरे

के आमने-सामने खड़े हैं। दोनों एक-दूसरे की टकराहट को झेल रहे हैं और एक-दूसरे का निरसन कर रहे हैं।

जैन दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है, चेतना की वास्तविकता को स्वीकार करता है। फिर भी अचेतन की अवास्तविकता का प्रतिपादन नहीं करता। वह चेतन को जितना वास्तविक मानता है उतना ही अचेतन को वास्तविक मानता है। इसलिए वह 'जड़द्वैतवादी' दर्शन का सीधा विरोधी नहीं है। वह दोनों के मध्य में है। उसकी धारा दोनों की ओर प्रवाहित होती है। चेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमें उसकी स्वीकृति है और अचेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमें भी उसकी स्वीकृति है। इस उभयपक्षी स्वीकृति के कारण जैन दर्शन द्वैतवादी है—चेतन और अचेतन की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करने वाला है।

दर्शन की तीन धाराएं विकसित हो गईं—जड़द्वैतवाद, आत्मद्वैतवाद और द्वैतवाद। भारतीय दर्शन इन तीन धाराओं में बंटा हुआ है। कुछ आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि सांख्य दर्शन बहुत प्राचीन है। जैन दर्शन का विकास उसके आधार पर हुआ है। मुझे लगता है यह एकांगी स्वीकार है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सांख्य दर्शन बहुत प्राचीन है। किन्तु इस सत्य को भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि जैन दर्शन उससे कम प्राचीन नहीं है। सांख्य दर्शन उसी श्रमण दर्शन की धारा में विकसित हुआ था जिसमें जैन दर्शन विकसित हुआ। दोनों एक ही धारा के दर्शन हैं, इसलिए उनमें समान तत्त्वों की खोज की जा सकती है, किन्तु इससे उनके पौर्वापर्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य ने लिखा है—'कपिल का सांख्य दर्शन वेद-विरुद्ध है और महर्षि मनु का जो वेदानुसारी वचन है, उसके भी विरुद्ध है। अर्थात् वह श्रुति और स्मृति—दोनों के विरुद्ध है, इसलिए वह विचारणीय नहीं है।' पद्मपुराण में एक उल्लेख मिलता है—'नैयायिक, वैशेषिक और पतंजलि का योग दर्शन—ये श्रुति विरुद्ध होने के कारण त्याज्य हैं।' मुझे आश्चर्य होता है कि इन तथ्यों पर विद्वानों का ध्यान क्यों नहीं आकर्षित हुआ? प्राचीनता और अर्वाचीनता के निर्णय में इनका उपयोग क्यों नहीं किया गया?

आप पतंजलि के योग दर्शन को देख जाइए। उसमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो श्रमण साहित्य में मिलेंगे। वैदिक साहित्य में नहीं खोजे जा सकते। केवली, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, चरमदेह, सोपक्रम, निरूपक्रम, सवितर्क, सविचार, निर्विचार आदि-आदि शब्द श्रमण परम्परा में बहुलता से व्यवहृत हैं। सांख्य और

योग—ये दोनों एक धारा के हैं। एक दर्शन पक्ष और दूसरा साधना पक्ष। ये दोनों वैदिक परम्परा में नहीं थे इसलिए श्रमण परम्परा के दर्शनों से इनका समन्वय स्वाभाविक है। श्रमण दर्शनों में अर्हत् दर्शन प्रभावशाली रहा है। जैन दर्शन उसकी मुख्य धारा है। सांख्य, आजीवक और बौद्ध—ये सब श्रमण दर्शन रहे हैं। इनकी तात्त्विक परम्परा के बीच सुदीर्घकालीन श्रामणिक चिन्तन निहित है।

जैन दर्शन ने द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। सांख्य भी द्वैतवादी है। उसने दो तत्त्वों—प्रकृति और पुरुष की स्थापना की। जैन दर्शन ने दो तत्त्वों—चेतन और अचेतन का प्रतिपादन किया। कहा जाता है, इस प्रतिपादन में जैन दर्शन पर सांख्य दर्शन का प्रभाव है। इस मान्यता का कारण जैन साहित्य का अपरिचय है। विद्वानों के सामने जैन दर्शन का मुख्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ सूत्र' रहा। किन्तु उससे पांच-छह शताब्दी पूर्व रचित आगम साहित्य उनके पास नहीं पहुंचा। यदि वह पहुंचा होता तो यह धारणा निर्मूल हो जाती। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन—दोनों द्वैतवादी हैं। किन्तु द्वैतवादी होने पर भी उनकी दर्शन-धारा में कुछ मौलिक अन्तर है। सांख्य दर्शन का स्वीकार है कि प्रकृति से सारी सृष्टि का विकास हुआ है। सृष्टि का मूल कारण है प्रकृति और सृष्टि है प्रकृति की विकृति। जैन दर्शन ने सृष्टि की व्याख्या चेतन और अचेतन—दोनों की संयुक्त प्रक्रिया के आधार पर की। उसके अनुसार केवल पुद्गल और केवल जीव से सृष्टि का विकास नहीं होता किन्तु जीव और पुद्गल—दोनों का समुचित योग होने पर ही वह होता है।

विश्व की व्याख्या का जैन दृष्टिकोण

दार्शनिक आचार्यों ने विश्व की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से की है। आचार्य शंकर के मतानुसार दृश्य जगत् पारमार्थिक नहीं है। प्रश्न हुआ—फिर यह क्या है? उत्तर मिला—यह माया है। सुषुप्ति अवस्था का यह अनुभव है। आपने स्वप्न में सिंह देखा, आप भय से प्रकंपित हो गए। आप जागृत अवस्था में आए, सिंह का भय समाप्त हो गया। स्वप्नावस्था का सिंह जागृत अवस्था का सिंह नहीं है। जागृत अवस्था में स्वप्नावस्था के सिंह की वास्तविक सत्ता नहीं है। इसलिए यह दृश्य जगत् व्यावहारिक सत्य है, वास्तविक सत्य नहीं है। हम लोग जागृत अवस्था में जो देख रहे हैं और हमें जो वास्तविक प्रतीत हो रहा है वह भी ब्रह्म की स्थिति में जाने पर वैसे ही मिथ्या हो जाएगा जैसे स्वप्न जगत् के दृश्य जागृत अवस्था में मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने दो सत्यों से विश्व की व्याख्या की—एक

व्यवहार सत्य और एक परमार्थ सत्य । ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है और दृश्य जगत् व्यवहार सत्य है ।

बौद्ध दर्शन ने भी संवृति सत्य और पारमार्थिक सत्य—इन दो दृष्टियों से विश्व की व्याख्या की । उसके अनुसार चेतन और अचेतन—दोनों क्षणजीवी हैं । यह पारमार्थिक सत्य है । उनकी त्रैकालिक एकता की प्रतीति सांवृतिक सत्य है । इन दोनों दृष्टियों ने सम्भवतः वेदान्त के दृष्टिकोण को प्रभावित किया । आचार्य शंकर के गुरु 'गौडपाद' बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे । हो सकता है कि गौडपाद का शंकर पर प्रभाव पड़ा हो और उन्होंने प्रकारान्तर से उपनिषदों के आधार पर मायावाद की व्याख्या की हो ।

जैन दर्शन ने विश्व की व्याख्या अनेकांत दृष्टि से की । अनेकान्त के अनुसार द्रव्य में अनन्त धर्म हैं । जितने धर्म हैं उतने ही उन्हें जानने के 'नय' हैं और जितने 'नय' हैं उतने ही उनके प्रतिपादन के प्रकार हैं । नयों का समाहार करने पर मूल नय दो होते हैं—नैश्चयिक और व्यावहारिक । नैश्चयिक नय की दृष्टि से चेतन और अचेतन—दोनों शाश्वत और वास्तविक सत्य हैं । व्यावहारिक नय की दृष्टि से चेतन और अचेतन—दोनों के पर्याय अशाश्वत, किन्तु वास्तविक सत्य हैं । नैश्चयिक नय द्रव्य की व्याख्या करता है और पर्यायार्थिक नय उसमें होने वाले विविध परिणमनों की व्याख्या करता है । व्यावहारिक नय की दृष्टि से चीनी मीठी है, सफेद है किन्तु नैश्चयिक नय की दृष्टि से उसमें सब वर्ण, सब रस, सब गंध और सब स्पर्श होते हैं । निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि चेतन और अचेतन—दोनों निरपेक्ष सत्य हैं तथा उनमें होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं । निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनों सत्यों की समन्विति ही वास्तविक सत्य है ।

विश्व-व्यवस्था और सह-अस्तित्व

नीम की एक टहनी में अनन्त धर्म है । वह मूल द्रव्य नहीं है । वह द्रव्य की एक पर्याय है । मूल द्रव्य पुद्गल है और मूल द्रव्य जीव है । जीव और पुद्गल दोनों का योग मिला और नीम उत्पन्न हो गया, टहनी निर्मित हो गई । उस टहनी में जीव और पुद्गल दोनों साथ रह रहे हैं । जीव चेतन और पुद्गल अचेतन और दोनों परस्पर विरोधी । वह द्रव्य ही नहीं होता जिसमें विरोधी धर्मों के अनन्त युगल न हों । एक परमाणु में भी अनन्त विरोधी युगल होते हैं । इसलिए जैन दर्शन का प्रत्येक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है; नित्य भी है और अनित्य भी है । शंकराचार्य ने

कहा—दार्शनिक को सबसे पहले नित्य और अनित्य का विवेक करना चाहिए। जो नित्य और अनित्य का विवेक नहीं रखता वह दार्शनिक नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में सत्य का प्रतिपादन नहीं कर सकता। महर्षि पतंजलि ने कहा—‘नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना अविद्या है।’ शंकराचार्य ने कहा—‘ब्रह्म नित्य और जगत् अनित्य है।’ उन्होंने नित्य और अनित्य—दोनों का प्रतिपादन किया किन्तु उनकी दृष्टि में ऐसा द्रव्य एक भी नहीं है जो नित्य भी हो और अनित्य भी हो। ब्रह्म नित्य ही है, वह अनित्य नहीं है। जगत् अनित्य ही है, वह नित्य नहीं है। जैन दर्शन इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखता है। उसकी दृष्टि का सार यह है—ब्रह्म अनित्य भी है और जगत् नित्य भी है। नित्य और अनित्य—दोनों के मह-अस्तित्व को कुछ दार्शनिक विरोधाभास मानते हैं और वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह जैन दर्शन का दृष्टि-भ्रम है। किन्तु जैन दार्शनिक इस आरोप को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार द्रव्य की प्रकृति में सामंजस्य की अपूर्व क्षमता है। उसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यह विरोधाभास हमारे व्यावहारिक दृष्टिकोण में है। द्रव्य की व्याख्या नैश्चयिक दृष्टिकोण से की जा सकती है, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर की स्तुति में लिखा है—‘आपकी आज्ञा को नहीं जानने वाले आकाश को नित्य और दीपक को अनित्य मानते हैं। आकाश जैसा है वैसा ही रहता है, इसीलिए वह नित्य है। दीपक की लौ आती है और चली जाती है। हवा का झोंका आता है और दीपक बुझ जाता है। इसीलिए वह अनित्य है।’ महावीर का दर्शन इससे भिन्न है। उसकी दृष्टि में जैसे आकाश नित्य है वैसे दीपक भी नित्य है और जैसे दीपक अनित्य है वैसे आकाश भी अनित्य है। यह स्याद्वाद की मर्यादा है। कोई भी द्रव्य इसका अतिक्रमण नहीं करता। दीपक एक पर्याय है। वह विनिष्ट हो जाता है किन्तु उसका आधार-तत्त्व पुद्गल कभी नष्ट नहीं होता। आकाश आधारभूत तत्त्व है, वह कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु घटाकाश, पटाकाश और गृहकाश—ये उसके पर्याय हैं। ये उत्पन्न और विनिष्ट होते रहते हैं। हम आकाश को आधार-तत्त्व के रूप में ही देखते हैं, तब उसे केवल नित्य कहते हैं। हम दीपक को वर्तमान पर्याय के रूप में ही देखते हैं, तब उसे अनित्य कहते हैं। पर कोई भी आधार-तत्त्व से शून्य नहीं होता। इसलिए आकाश को अनित्य और दीपक को नित्य कहना दृष्टि का भ्रम नहीं, किन्तु यथार्थ है।

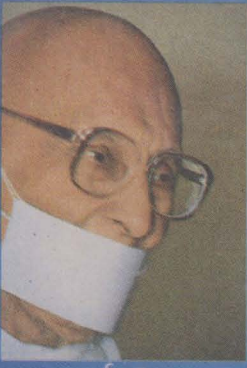
जैन दर्शन ने विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व स्वीकार किया इसलिए वह सर्वग्राही दर्शन हो गया। वह किसी भी विचारधारा को असत्य की दृष्टि से नहीं देखता किन्तु सापेक्ष-सत्य की दृष्टि से देखता है। जितने विचार हैं, वे सब पर्याय हैं और पर्याय निरपेक्ष-सत्य नहीं हो सकता। निरपेक्ष-सत्य तो मूल द्रव्य हो सकता है। जैन-दर्शन को जड़वादी विचार अमान्य नहीं है किन्तु साथ-साथ आत्मवादी विचार भी उतना ही मान्य है जितना कि जड़वादी विचार। दोनों विचारों का योग होने पर ही जैन दर्शन यथार्थ बनता है।

मैं एक बार आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' पढ़ रहा था। नैश्चयिक नय की जलराशि में डुबकियां लगाते-लगाते मुझे ऐसा अभ्यास हुआ कि कहीं मैं अद्वैतवादी तो नहीं हो गया हूं। सचमुच मेरा मानस ऐसा बन गया कि द्वैत की अपेक्षा अद्वैत का सिद्धांत अधिक गम्भीर है। मेरी द्वैत की दृष्टि समाप्त हो गई। हम द्वैत की दिशा से चलते हैं और चलते-चलते ऐसे स्थान पर पहुंचते हैं जहां केवल सत्ता है। सत्ता में कोई भेद नहीं होता। विभक्त होता है केवल पर्याय। मैं दर्शन से काम लेता रहा तब तक मुझे अद्वैत का अनुभव होता रहा। दर्शन अनाकार होता है। वह द्रव्य को देखता है, इसलिए उसके सामने कोई आकार नहीं होता। केवल सामान्य होता है, कोई विशेष नहीं होता। मैंने जब ज्ञान से काम लेना शुरू किया, तब मेरे सामने पर्याय आ गये। जैसे ही मैंने पर्यायों को जानना प्रारम्भ किया, मैं फिर द्वैतवादी हो गया। प्रत्येक पर्याय का एक निश्चित आकार होता है और ज्ञान उस आकार को जानता है। हम जब-जब अनाकार को देखते हैं तब-तब अस्तित्ववादी या द्वैतवादी होते हैं। पर्याय द्रव्य में विलीन हो जाते हैं और द्रव्य अस्तित्व में विलीन हो जाते हैं। शेष बचता है कोरा अस्तित्व। उसमें न चेतन और अचेतन का भेद होता है, न मूर्त और अमूर्त का भेद होता है। कोई भेद नहीं होता, कोई आकार नहीं होता, केवल सत्ता शेष रह जाती है। अनेकान्त की भाषा में यह 'संग्रह नय' का सत्य है। अनेकान्त मर्यादा में केवल एक नय ही सत्य नहीं होता। शेष सब नयों की सत्यता स्वीकार करने पर ही कोई नय सत्य होता है। संग्रह नय सत्य है, अद्वैत सत्य है, किन्तु व्यवहार नय या द्वैत भी उतना ही सत्य है। अस्तित्व द्रव्य और पर्याय—इन दो आकारों में विभक्त होता है। द्रव्य पांच अस्तिकायों में विभक्त होता है। पर्याय अनन्त रूपों में विभक्त होता है। यह द्वैत उतना ही सत्य होता है, जितना कि अद्वैत। इस स्वीकृति के बाद हम जैन दर्शन को न अद्वैतवादी कह सकते हैं और न द्वैतवादी।

वह अद्वैत-द्वैतवादी है ।

द्रव्य का अस्तित्व जो है वह शाश्वत है । वह कभी भी नष्ट नहीं होता । पर्याय बदलता रहता है । असत् पर्याय की उत्पत्ति और सत् पर्याय का नाश—यह क्रम बराबर चलता रहता है । इसलिए जैन दर्शन न सत्वादी है और न असत्वादी, किन्तु सत्-असत्वादी है ।

० ० ०



आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनू